कल्याण
वर्ष ३१
अङ्क १०
भगवान

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा शिव जानकि राम। जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
रघुपति राघव राजा राम। पतित पावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ आगारा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर पौष २०१४, दिसम्बर १९५७

चित्र-सूची

तिरंगा

वार्षिक मूल्य भारतमें ७॥) विदेशमें १०) (१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत चित आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति भारतमें ।=) विदेशमें ।-) (१० पैसे)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर
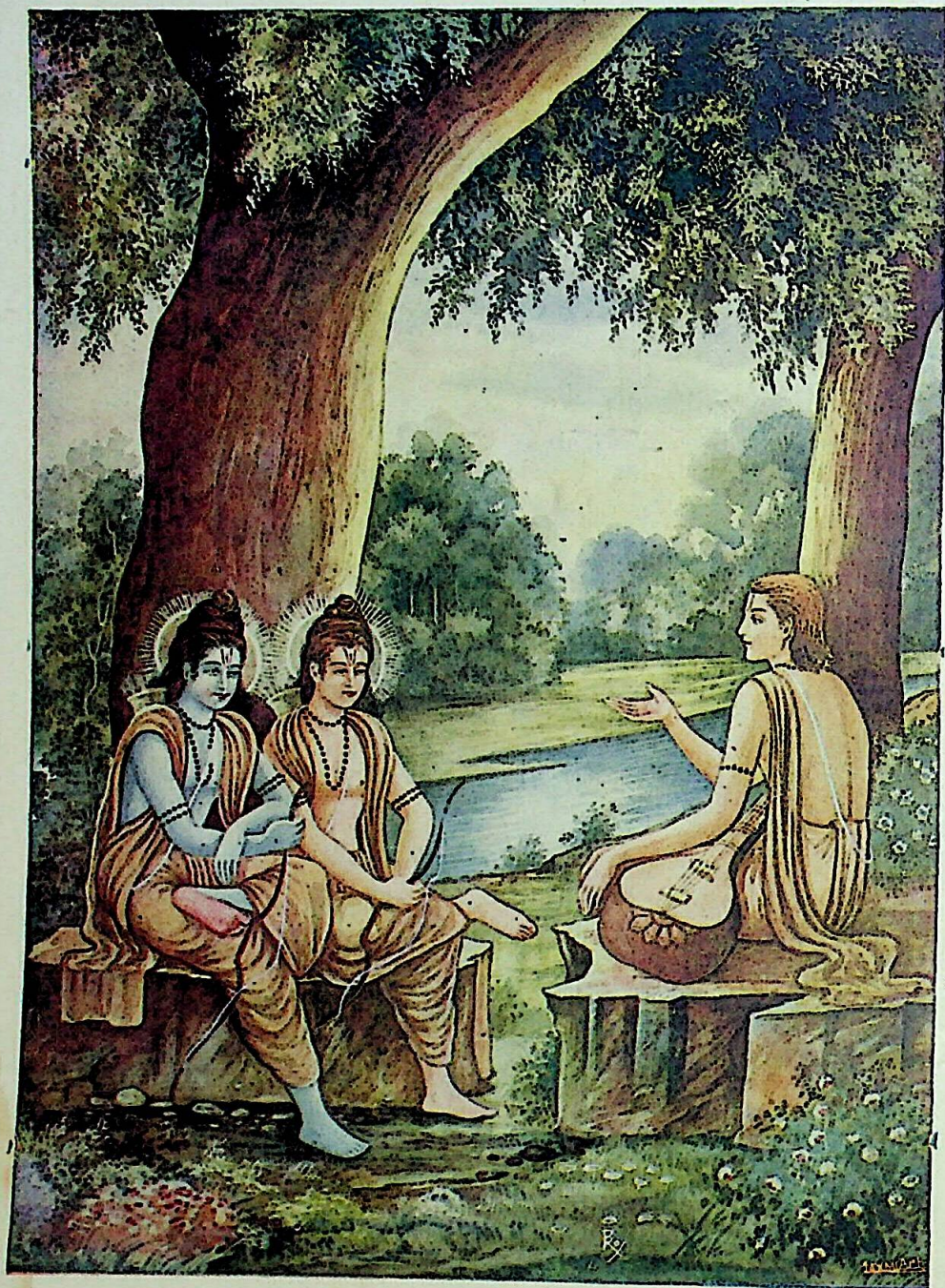
देवर्षिकी श्रीराम-लक्ष्मणसे भेंट

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
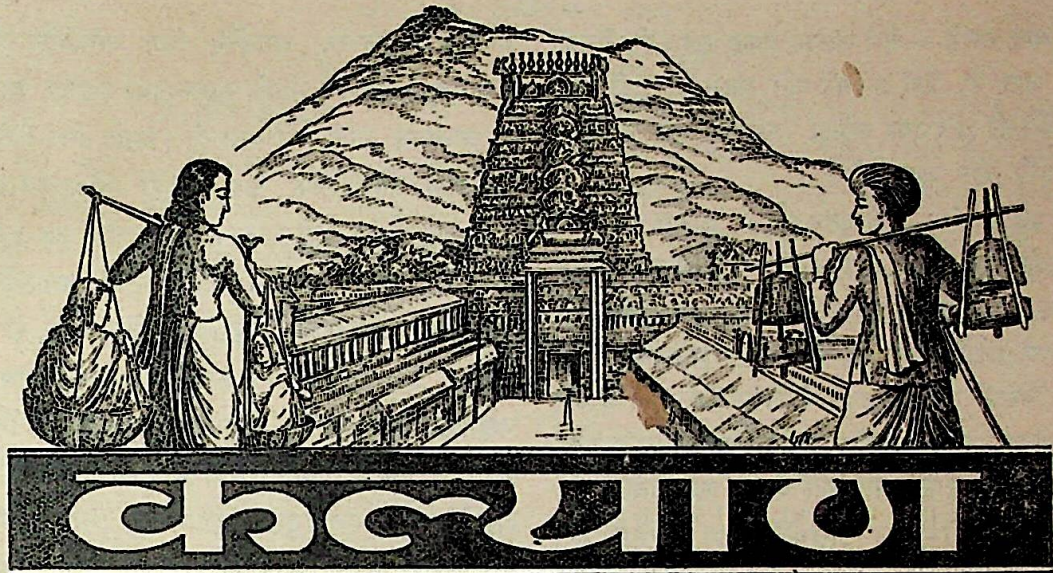
ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम् ।
भृत्यार्तिहं प्रणतपालभवाब्धिपोतं वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । ५ । ३३)

वर्ष ३१ | गोरखपुर, सौर पौष २०१४, दिसम्बर १९५७ | संख्या १२
पूर्ण संख्या ३७३

भगवान् श्रीरामका देवर्षिको उपदेश

सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा । भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा ॥
करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी । जिमि बालक राखइ महतारी ॥
गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई । तहँ राखइ जननी अरगाई ॥
प्रौढ़ भएँ तेहि सुत पर माता । प्रीति करइ नहिं पाछिलि बाता ॥
मोरें प्रौढ़ तनय सम ग्यानी । बालक सुत सम दास अमानी ॥
जनहि मोर बल निज बल ताही । दुहु कहँ काम क्रोध रिपु आही ॥
यह बिचारि पंडित मोहि भजहीं । पाएहुँ ग्यान भगति नहिं तजहीं ॥
काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि ।
तिन्ह महँ अति दारुन दुखद मायारूपी नारि ॥

(रामचरित० अरण्य० ४२ । २—५, ४३)

याद रक्खो—जैसे जलका प्रवाह सहज ही नीचेकी ओर जाता है, जैसे वायुकी गति सहज ही टेढ़ी होती है, वैसे ही इन्द्रियोंका स्वभाव आत्माकी ओर न जाकर भोगोंकी ओर जाना ही है।

याद रक्खो—जैसे पतंग सुखकी इच्छासे सहज ही अग्निकी ओर जाकर झुलस मरता है, जैसे मत्त गजराज सुखकी इच्छासे सहज ही नकली हथिनीकी ओर दौड़कर गढ़ेमें गिर जाता है, वैसे ही इन्द्रियोंका प्रवाह और उनकी गति सहज ही भोगोंकी ओर होती है और वे वहाँ अपने साथ चित्तको ले जाकर, चित्तके साथ तादात्म्यको प्राप्त आत्माका पतन और बन्धन करा देती हैं।

याद रक्खो—यह इन्द्रियोंके साथ भोगोंकी ओर जानेवाला चित्त ही आत्माके पतनमें मुख्य कारण है। अतएव चित्तको निगृहीत और विशुद्ध-भावापन्न बनानेके लिये नित्य सत्सङ्ग करो। चित्तको सदा वैसे ही सङ्गमें रक्खो—वैसे ही साधन दो, जिनसे भोगोंकी दु:खमयता, निस्सारता और पतनकारिताका यथार्थ तथा दृढ़ निश्चय होता है।

याद रक्खो—निगृहीत और विशुद्ध चित्त ही देवता है और भोगोंमें आसक्त भोग-चिन्तापरायण स्वेच्छाचारी अपवित्र चित्त ही असुर है। दैवी और आसुरी सम्पदा चित्तमें ही निवास करती हैं।

याद रक्खो—निगृहीत और विशुद्ध चित्त ही तुम्हारा परम हितकारी नित्य बन्धु है और भोगोंमें भटकनेवाला अपावन चित्त ही तुम्हारा सबसे बड़ा वैरी है। अतएव सदा-सर्वदा चित्तको निगृहीत और विशुद्ध बनानेके प्रयत्नमें दृढ़तासे लगे रहो। इसीका नाम साधन है।

याद रक्खो—चित्त बिना आलम्बनके नहीं रह सकता, इसको कोई आलम्बन चाहिये। इस समय चित्तने भोगको आलम्बन बना रक्खा है। भोगका परिणाम है—दु:ख, अशान्ति, पीड़ा, नरक-भोग और जन्म-मृत्यु। इसलिये भोगके आलम्बनको हटाकर चित्तका आलम्बन भगवान्‌को बना दो। इसके लिये विशेष चेष्टा तथा सावधानीके साथ चित्तको भगवत्-सम्पर्कमें रखनेका प्रयत्न करो। सच्चे भगवद्भक्तोंका सङ्ग करो, भोगासक्त नकली भक्तोंका नहीं, सच्चे ज्ञानियोंका सङ्ग करो, इन्द्रियाराम ज्ञानाभिमानियोंका नहीं; सच्चे निष्काम कर्मयोगियोंका सङ्ग करो, धन-मानाधिकार चाहनेवाले कर्मवादियोंका नहीं; सच्चे पुण्यात्मा पुरुषोंका सङ्ग करो, पुण्यके नामपर पाप-सेवन करनेवालोंका नहीं; विषय-विराग, भगवदनुराग बढ़ानेवाले और तमोमय मोहका नाश करके आत्मज्ञानकी विमल ज्योति जगानेवाले सद्ग्रन्थोंका स्वाध्याय करो, भोगवासना बढ़ाने तथा भोगोंकी महत्ता बतानेवाले पतनकारी साहित्यका नहीं; और मनमें सात्त्विकता बढ़ानेवाले पदार्थोंका ही भोजन करो; रज-तम बढ़ानेवाले पदार्थोंका नहीं।

याद रक्खो—जैसा सङ्ग होगा, जैसा वायुमण्डल होगा, जैसा खान-पान होगा, जैसे साहित्यका अध्ययन होगा, चित्त वैसा ही बनेगा; और जैसा चित्त होगा, वैसी ही चेष्टा-क्रिया होगी और उसीके अनुसार वैसा ही जीवात्माको अच्छा-बुरा फल प्राप्त होगा या उसकी अच्छी-बुरी गति होगी।

याद रक्खो—आत्माका सुदृढ़ निश्चय अथवा भगवान्‌की अहैतुकी कृपाका बल भोगोंकी ओर लगे हुए चित्तको आत्मामें या भगवान्‌में लगानेमें पूर्ण समर्थ है। अत: आत्मामें सुदृढ़ निश्चय करके तथा भगवान्‌की कृपाके बलका अनन्य आश्रय लेकर चित्तको आत्मस्थ या भगवच्चरणाश्रित कर दो। तुम्हारा जीवन निश्चय ही सफल हो जायगा।

'शिव'

गीताका रहस्य

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

[भाग ३१, सं० ११, पृष्ठ १२९३ से आगे]

बारहवाँ अध्याय

इस बारहवें अध्यायमें मुख्यतया अनेक प्रकारके साधनों-सहित भगवान्‌की भक्तिका वर्णन करके भगवद्भक्तोंके लक्षण बतलाये गये हैं। अतएव इस अध्यायका नाम 'भक्तियोग' रक्खा गया है।

ग्यारहवें अध्यायके अन्तमें जो भगवान्‌के अनन्य भक्तकी विशेष प्रशंसा कही गयी, उसे सुनकर अर्जुनने पूछा—'भगवन्! जो अनन्य-प्रेमी भक्तजन पूर्वोक्त प्रकारसे निरन्तर आपके भजन-ध्यानमें लगे रहकर आप सगुणरूप परमेश्वरको, और दूसरे जो केवल अविनाशी सच्चिदानन्द निराकार ब्रह्मको ही अतिश्रेष्ठ भावसे भजते हैं, उन दोनों प्रकारके उपासकोंमें अत्युत्तम योगवेत्ता कौन हैं?'

इसपर भगवान्‌ने कहा—'अर्जुन! मुझमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन-ध्यानमें लगे हुए जो भक्तजन अतिशय श्रद्धासे युक्त होकर मुझ सगुणरूप परमेश्वरको भजते हैं, वे मुझको योगियोंमें अत्युत्तम योगी मान्य हैं। परंतु जो पुरुष इन्द्रियोंके समुदायको भली प्रकार वशमें करके मन-बुद्धिसे परे, सर्वव्यापी, अकथनीयस्वरूप, सदा एकरस रहनेवाले, नित्य, अचल, निराकार, अविनाशी, सच्चिदानन्द-घन ब्रह्मको निरन्तर एकीभावसे ध्यान करते हुए भजते हैं, वे सम्पूर्ण भूतोंके हितमें रत और सबमें समान भाववाले योगी मुझको ही प्राप्त होते हैं; किंतु उन सच्चिदानन्दघन निराकार ब्रह्ममें आसक्त चित्तवाले पुरुषोंके साधनमें परिश्रम विशेष है; क्योंकि जबतक शरीरमें अभिमान रहता है, तबतक शुद्ध सच्चिदानन्दघन निराकार ब्रह्ममें स्थिति होनी कठिन है। परंतु जो मेरे परायण रहनेवाले भक्तजन सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके मुझ सगुणरूप परमेश्वरको ही अनन्य भक्तियोगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं, उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार कर देता हूँ। इसलिये तू मुझमें ही मन-बुद्धिको लगा। इस प्रकार साधन करनेसे तू मुझमें ही निवास करेगा। यदि तू मनको मुझमें अचल भावसे स्थापित करनेमें समर्थ नहीं है तो अभ्यासरूप योगके द्वारा मुझे पानेकी इच्छा कर। यदि तू उपर्युक्त अभ्यासमें भी असमर्थ है तो केवल मेरे लिये कर्म करनेमें ही तत्पर हो जा। इस प्रकार मेरे निमित्त कर्मोंको करता हुआ भी मेरी प्राप्तिरूप सिद्धिको ही प्राप्त होगा। यदि मेरी प्राप्तिरूप योगके आश्रित होकर उपर्युक्त साधनको करनेमें भी तू असमर्थ है तो मन-बुद्धि आदिपर विजय प्राप्त करके सब कर्मोंके फलका त्याग कर; क्योंकि मर्मको न जानकर किये हुए अभ्याससे ज्ञान श्रेष्ठ है, उस विवेक-ज्ञानसे मुझ परमेश्वरके स्वरूपका ध्यान श्रेष्ठ है और कामनापूर्वक किये हुए ध्यानसे भी सब कर्मोंके फलका त्याग श्रेष्ठ है; त्यागसे तत्काल ही परम शान्ति होती है।'

अब उपर्युक्त परम शान्तिको प्राप्त भगवद्भक्तोंके लक्षण बतलाये जाते हैं। जो पुरुष सब भूतोंमें द्वेषभावसे रहित, सबका स्वार्थरहित प्रेमी और हेतुरहित दयालु है तथा ममतासे रहित, अहंकारसे रहित, सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम और क्षमावान् है अर्थात् अपराध करनेवालेको भी अभय देनेवाला है, तथा जो योगी लाभ-हानिमें निरन्तर संतुष्ट है, मन-इन्द्रियों-सहित शरीरको वशमें किये हुए है और भगवान्‌में दृढ़ निश्चयवाला है, वह भगवान्‌में अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला भगवद्भक्त भगवान्‌को प्रिय है। जिससे कोई भी जीव उद्वेगको नहीं प्राप्त होता और जो स्वयं भी किसी जीवसे उद्वेगको नहीं प्राप्त होता तथा जो हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगादिसे रहित है, वह भक्त भगवान्‌को प्रिय है। जो पुरुष आकाङ्क्षासे रहित, बाहर-भीतरसे शुद्ध और चतुर है अर्थात् जिस कामके लिये आया था उसको पूरा कर चुका है एवं जो पक्षपातसे रहित और दुःखोंसे छूटा हुआ है, वह मन, वाणी और शरीरद्वारा होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका त्यागी भगवद्भक्त भगवान्‌को प्रिय है। जो प्रियको पाकर हर्षित नहीं होता, अप्रियको पाकर द्वेष नहीं करता, प्रियके नाशमें शोक नहीं करता, प्रियके अभावमें उसकी इच्छा नहीं करता, शुभ कर्मोंका फल नहीं चाहता और अशुभ कर्मोंका सर्वथा त्यागी है, वह भक्तियुक्त पुरुष भगवान्‌को प्रिय है। जो शत्रु-मित्र, मान-अपमान, सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख और निन्दा-स्तुति आदि द्वन्द्वोंमें सम तथा आसक्तिसे रहित है एवं ईश्वरके स्वरूपका निरन्तर मनन करनेवाला है और जिस किसी प्रकारसे भी शरीरका निर्वाह होनेमें सदा ही संतुष्ट है तथा रहनेके स्थानमें ममता और

याद रक्खो—जैसे जलका प्रवाह सहज ही नीचेकी ओर जाता है, जैसे वायुकी गति सहज ही टेढ़ी होती है, वैसे ही इन्द्रियोंका स्वभाव आत्माकी ओर न जाकर भोगोंकी ओर जाना ही है।

याद रक्खो—जैसे पतंग सुखकी इच्छासे सहज ही अग्निकी ओर जाकर झुलस मरता है, जैसे मत्त गजराज सुखकी इच्छासे सहज ही नकली हथिनीकी ओर दौड़कर गढ़ेमें गिर जाता है, वैसे ही इन्द्रियोंका प्रवाह और उनकी गति सहज ही भोगोंकी ओर होती है और वे वहाँ अपने साथ चित्तको ले जाकर, चित्तके साथ तादात्म्यको प्राप्त आत्माका पतन और बन्धन करा देती हैं।

याद रक्खो—यह इन्द्रियोंके साथ भोगोंकी ओर जानेवाला चित्त ही आत्माके पतनमें मुख्य कारण है। अतएव चित्तको निगृहीत और विशुद्ध-भावापन्न बनानेके लिये नित्य सत्सङ्ग करो। चित्तको सदा वैसे ही सङ्गमें रक्खो—वैसे ही साधन दो, जिनसे भोगोंकी दुःखमयता, निस्सारता और पतनकारिताका यथार्थ तथा दृढ़ निश्चय होता है।

याद रक्खो—निगृहीत और विशुद्ध चित्त ही देवता है और भोगोंमें आसक्त भोग-चिन्तापरायण स्वेच्छाचारी अपवित्र चित्त ही असुर है। दैवी और आसुरी सम्पदा चित्तमें ही निवास करती हैं।

याद रक्खो—निगृहीत और विशुद्ध चित्त ही तुम्हारा परम हितकारी नित्य बन्धु है और भोगोंमें लगनेवाला अपवित्र चित्त ही तुम्हारा सबसे बड़ा वैरी है। अतएव सदा-सर्वदा चित्तको निगृहीत और विशुद्ध बनानेके प्रयत्नमें [illegible] रहो। इसीका नाम साधन है।

याद रक्खो—चित्त बिना आलम्बनके नहीं रह सकता, इसको कोई आलम्बन चाहिये। इस समय चित्तने भोगोंको आलम्बन बना रक्खा है। भोगका परिणाम है—दुःख, अशान्ति, पीड़ा, नरक-भोग और जन्म-मृत्यु। इसलिये भोगके आलम्बनको हटाकर चित्तका आलम्बन भगवान्‌को बना दो। इसके लिये विशेष चेष्टा तथा सावधानीके साथ चित्तको भगवत्-सम्पर्कमें रखनेका प्रयत्न करो। सच्चे भगवद्भक्तोंका सङ्ग करो, भोगासक्त नकली भक्तोंका नहीं, सच्चे ज्ञानियोंका सङ्ग करो, इन्द्रियाराम ज्ञानाभिमानियोंका नहीं; सच्चे निष्काम कर्मयोगियोंका सङ्ग करो, धन-मानाधिकार चाहनेवाले कर्मवादियोंका नहीं; सच्चे पुण्यात्मा पुरुषोंका सङ्ग करो, पुण्यके नामपर पाप-सेवन करनेवालोंका नहीं; विषय-विराग, भगवदनुराग बढ़ानेवाले और तमोमय मोहका नाश करके आत्मज्ञानकी विमल ज्योति जगानेवाले सद्ग्रन्थोंका स्वाध्याय करो, भोगवासना बढ़ाने तथा भोगोंकी महत्ता बतानेवाले पतनकारी साहित्यका नहीं; और मनमें सात्त्विकता बढ़ानेवाले पदार्थोंका ही भोजन करो; रज-तम बढ़ानेवाले पदार्थोंका नहीं।

याद रक्खो—जैसा सङ्ग होगा, जैसा वायुमण्डल होगा, जैसा खान-पान होगा, जैसे साहित्यका अध्ययन होगा, चित्त वैसा ही बनेगा; और जैसा चित्त होगा, वैसी ही चेष्टा-क्रिया होगी और उसीके अनुसार वैसा ही जीवात्माको अच्छा-बुरा फल प्राप्त होगा या उसकी अच्छी-बुरी गति होगी।

याद रक्खो—आत्माका सुदृढ़ निश्चय अथवा भगवान्‌की अहैतुकी कृपाका बल भोगोंकी ओर लगे हुए चित्तको आत्मामें या भगवान्‌में लगानेमें पूर्ण समर्थ है। अतः आत्मामें सुदृढ़ निश्चय करके तथा भगवान्‌की कृपाके बलका अनन्य आश्रय लेकर चित्तको आत्मस्थ या भगवच्चरणाश्रित कर दो। तुम्हारा जीवन निश्चय ही सफल हो जायगा।

'शिव'

गीताका रहस्य

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

[भाग ३१, सं० ११, पृष्ठ १२९३ से आगे]

बारहवाँ अध्याय

इस बारहवें अध्यायमें मुख्यतया अनेक प्रकारके साधनों-सहित भगवान्की भक्तिका वर्णन करके भगवद्भक्तोंके लक्षण बतलाये गये हैं। अतएव इस अध्यायका नाम 'भक्तियोग' रक्खा गया है।

ग्यारहवें अध्यायके अन्तमें जो भगवान्के अनन्य भक्तकी विशेष प्रशंसा कही गयी, उसे सुनकर अर्जुनने पूछा—'भगवन्! जो अनन्य-प्रेमी भक्तजन पूर्वोक्त प्रकारसे निरन्तर आपके भजन-ध्यानमें लगे रहकर आप सगुणरूप परमेश्वरको, और दूसरे जो केवल अविनाशी सच्चिदानन्द निराकार ब्रह्मको ही अतिश्रेष्ठ भावसे भजते हैं, उन दोनों प्रकारके उपासकोंमें अत्युत्तम योगवेत्ता कौन हैं?'

इसपर भगवान्ने कहा—'अर्जुन! मुझमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन-ध्यानमें लगे हुए जो भक्तजन अतिशय श्रद्धासे युक्त होकर मुझ सगुणरूप परमेश्वरको भजते हैं, वे मुझको योगियोंमें अत्युत्तम योगी मान्य हैं। परंतु जो पुरुष इन्द्रियोंके समुदायको भली प्रकार वशमें करके मन-बुद्धिसे परे, सर्वव्यापी, अकथनीयस्वरूप, सदा एकरस रहनेवाले, नित्य, अचल, निराकार, अविनाशी, सच्चिदानन्द-घन ब्रह्मको निरन्तर एकीभावसे ध्यान करते हुए भजते हैं, वे सम्पूर्ण भूतोंके हितमें रत और सबमें समान भाववाले योगी मुझको ही प्राप्त होते हैं; किंतु उन सच्चिदानन्दघन निराकार ब्रह्ममें आसक्त चित्तवाले पुरुषोंके साधनमें परिश्रम विशेष है; क्योंकि जबतक शरीरमें अभिमान रहता है, तबतक शुद्ध सच्चिदानन्दघन निराकार ब्रह्ममें स्थिति होनी कठिन है। परंतु जो मेरे परायण रहनेवाले भक्तजन सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके मुझ सगुणरूप परमेश्वरको ही अनन्य भक्तियोगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं, उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार कर देता हूँ। इसलिये तू मुझमें ही मन-बुद्धिको लगा। इस प्रकार साधन करनेसे तू मुझमें ही निवास करेगा। यदि तू मनको मुझमें अचल भावसे स्थापित करनेमें समर्थ नहीं है तो अभ्यासरूप योगके द्वारा मुझे पानेकी इच्छा कर। यदि तू उपर्युक्त अभ्यासमें भी असमर्थ है तो केवल मेरे लिये कर्म करनेमें ही तत्पर हो जा। इस प्रकार मेरे निमित्त कर्मोंको करता हुआ भी मेरी प्राप्तिरूप सिद्धिको ही प्राप्त होगा। यदि मेरी प्राप्तिरूप योगके आश्रित होकर उपर्युक्त साधनको करनेमें भी तू असमर्थ है तो मन-बुद्धि आदिपर विजय प्राप्त करके सब कर्मोंके फलका त्याग कर; क्योंकि मर्मको न जान-कर किये हुए अभ्याससे ज्ञान श्रेष्ठ है, उस विवेक-ज्ञानसे मुझ परमेश्वरके स्वरूपका ध्यान श्रेष्ठ है और कामनापूर्वक किये हुए ध्यानसे भी सब कर्मोंके फलका त्याग श्रेष्ठ है; त्यागसे तत्काल ही परम शान्ति होती है।'

अब उपर्युक्त परम शान्तिको प्राप्त भगवद्भक्तोंके लक्षण बतलाये जाते हैं। जो पुरुष सब भूतोंमें द्वेषभावसे रहित, सबका स्वार्थरहित प्रेमी और हेतुरहित दयालु है तथा ममतासे रहित, अहंकारसे रहित, सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम और क्षमावान् है अर्थात् अपराध करनेवालेको भी अभय देनेवाला है, तथा जो योगी लाभ-हानिमें निरन्तर संतुष्ट है, मन-इन्द्रियों-सहित शरीरको वशमें किये हुए है और भगवान्में दृढ़ निश्चयवाला है, वह भगवान्में अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला भगवद्भक्त भगवान्को प्रिय है। जिससे कोई भी जीव उद्वेगको नहीं प्राप्त होता और जो स्वयं भी किसी जीवसे उद्वेगको नहीं प्राप्त होता तथा जो हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगादिसे रहित है, वह भक्त भगवान्को प्रिय है। जो पुरुष आकाङ्क्षासे रहित, बाहर-भीतरसे शुद्ध और चतुर है अर्थात् जिस कामके लिये आया था उसको पूरा कर चुका है एवं जो पक्षपातसे रहित और दुःखोंसे छूटा हुआ है, वह मन, वाणी और शरीरद्वारा होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका त्यागी भगवद्भक्त भगवान्को प्रिय है। जो प्रियको पाकर हर्षित नहीं होता, अप्रियको पाकर द्वेष नहीं करता, प्रियके नाशमें शोक नहीं करता, प्रियके अभावमें उसकी इच्छा नहीं करता, शुभ कर्मोंका फल नहीं चाहता और अशुभ कर्मोंका सर्वथा त्यागी है, वह भक्तियुक्त पुरुष भगवान्को प्रिय है। जो शत्रु-मित्र, मान-अपमान, सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख और निन्दा-स्तुति आदि द्वन्द्वोंमें सम तथा आसक्तिसे रहित है एवं ईश्वरके स्वरूपका निरन्तर मनन करनेवाला है और जिस किसी प्रकारसे भी शरीरका निर्वाह होनेमें सदा ही संतुष्ट है तथा रहनेके स्थानमें ममता और

आसक्तिसे रहित है, वह स्थिरबुद्धि भक्त भगवान्‌को प्रिय है। परंतु जो श्रद्धायुक्त पुरुष भगवत्परायण होकर इस ऊपर कहे हुए धर्ममय अमृतका निष्काम प्रेमभावसे सेवन करते हैं, वे साधक भक्त भगवान्‌को अतिशय प्रिय हैं।

तेरहवाँ अध्याय

'क्षेत्र' (शरीर) और 'क्षेत्रज्ञ' (आत्मा) परस्पर अत्यन्त विलक्षण हैं। केवल अज्ञानसे ही इन दोनोंकी एकता-सी हो रही है। क्षेत्र जड, विकारी, क्षणिक और नाशवान् है एवं क्षेत्रज्ञ चेतन, ज्ञानस्वरूप, निर्विकार, नित्य और अविनाशी है। अतः इस अध्यायमें 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' दोनोंके स्वरूपका उपर्युक्त प्रकारसे विभाग किया गया है। इसलिये इसका नाम 'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञविभागयोग' रखा गया है।

खेतमें जैसा बीज बोया जाता है, उसीके अनुसार फल होता है, इसी प्रकार इस शरीरद्वारा मनुष्य जैसा कर्म करता है, वैसा ही फल मिलता है—इस दृष्टिसे ज्ञानी पुरुष इस मनुष्य-शरीरको 'क्षेत्र' और जो इसको जानता है, उसको 'क्षेत्रज्ञ' कहते हैं। इन सब क्षेत्रों (शरीरों) में जो क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा) है, वह परमात्माका अंश होनेके कारण परमात्मा-का ही स्वरूप है। इन क्षेत्र और क्षेत्रज्ञको तत्त्वसे जानना ही ज्ञान है। इसलिये उस क्षेत्रका जो स्वरूप है, जैसा उसका स्वभाव है, वह जिन विकारोंवाला है, जिस कारणसे जो उत्पन्न हुआ है तथा उस क्षेत्रज्ञका भी जो स्वरूप है और वह जैसे प्रभाव-वाला है, वह सब संक्षेपसे बतलाया जाता है।

यह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका तत्त्व ऋषियोंद्वारा, विविध वेद-मन्त्रोंद्वारा तथा युक्तियुक्त ब्रह्मसूत्रके पदोंद्वारा भी कहा गया है। उनमेंसे पहले क्षेत्रका स्वरूप और विकार बतलाये जाते हैं। मूल प्रकृति (त्रिगुणमयी माया), बुद्धि और अहंकार तथा आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी—इनका सूक्ष्मभाव (पाँचों तन्मात्राएँ), श्रोत्र, त्वचा, रसना, नेत्र, घ्राण, वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा—ये दस इन्द्रियाँ तथा एक मन एवं शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच इन्द्रियोंके विषय—इस प्रकार ये चौबीस तत्त्व मिलकर 'क्षेत्र (शरीर) का स्वरूप' है। इच्छा-द्वेष, सुख-दुःख, स्थूल देहका पिण्ड, चेतना और धृति—ये सात 'क्षेत्रके विकार' हैं।

अब ज्ञानकी प्राप्तिके साधन बतलाये जाते हैं। श्रेष्ठताके अभिमानका अभाव, दम्भाचरणका अभाव, किसी भी प्राणी-को किसी प्रकार भी न सताना, क्षमाभाव, मन-वाणी आदि-की सरलता, श्रद्धा-भक्तिपूर्वक गुरुकी सेवा, बाहर-भीतरकी शुद्धि, अन्तःकरणकी स्थिरता, मन-इन्द्रियोंसहित शरीरका निग्रह, इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोंमें आसक्तिका अभाव, अहंकारका अभाव; जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदिमें दुःख और दोषोंका बार-बार विचार करना; पुत्र, स्त्री, घर और धन आदिमें आसक्तिका अभाव; ममताका न होना, प्रिय और अप्रियकी प्राप्तिमें सदा ही चित्तका सम रहना अर्थात् मनके अनुकूल तथा प्रतिकूलके प्राप्त होनेपर हर्ष-शोकादि विकारोंका न होना, परमेश्वरमें अनन्य योगके द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति, एकान्त और शुद्ध देशमें रहने-का स्वभाव, विषयासक्त मनुष्योंके समुदायमें प्रीतिका न होना, आत्मतत्त्वमें नित्य स्थिति और परमात्माके स्वरूपका सर्वत्र अनुभव करना—ये सब ज्ञानमें हेतु होनेसे 'ज्ञान' हैं और इनसे विपरीत मान, दम्भ, हिंसा आदि अज्ञानकी वृद्धिमें हेतु होनेसे 'अज्ञान' हैं।

अब ज्ञानके द्वारा जानने योग्य परमात्माका स्वरूप बतलाया जाता है। जो जानने योग्य है तथा जिसको जानकर मनुष्य अमृतस्वरूप परमात्माको प्राप्त होता है, वह आदि-रहित परब्रह्म अकथनीय होनेसे न सत् ही कहा जा सकता है न असत् ही। वह सब ओर हाथ, पैर, नेत्र, सिर, मुख और कानवाला है; क्योंकि वह संसारमें आकाशकी भाँति सब-को व्याप्त करके स्थित है। वह सम्पूर्ण इन्द्रियोंके विषयोंको जाननेवाला है, परंतु वास्तवमें सब इन्द्रियोंसे रहित है तथा आसक्तिरहित होनेपर भी सबका धारण-पोषण करनेवाला और गुणातीत होनेपर भी गुणोंको भोगनेवाला है। वह परमात्मा चराचर समस्त भूतोंके बाहर-भीतर परिपूर्ण है और चर-अचर-रूप भी वही है। वह सूक्ष्म होनेसे अविज्ञेय है तथा श्रद्धालु मनुष्यके लिये वह अत्यन्त समीप है और अश्रद्धालुके लिये अत्यन्त दूर है; क्योंकि जिसको मनुष्य दूर और समीप मानता है, उन सभी स्थानोंमें वह परमात्मा सदा ही परिपूर्ण है। जैसे महाकाश वास्तवमें विभागरहित है, तो भी भिन्न-भिन्न घड़ोंके सम्बन्धसे विभक्त-सा प्रतीत होता है, वैसे ही परमात्मा वास्तवमें विभागरहित है, तो भी समस्त चराचर प्राणियोंमें पृथक्-पृथक्के सदृश स्थित प्रतीत होता है। वह जानने योग्य परमात्मा विष्णुरूपसे भूतोंको धारण-पोषण करने-वाला, रुद्ररूपसे संहार करनेवाला तथा ब्रह्मारूपसे सब-को उत्पन्न करनेवाला है। वह परब्रह्म परमात्मा ज्योतियोंका भी ज्योति एवं अन्धकार और अज्ञानरूप मायासे अत्यन्त परे है। वह परमात्मा बोधस्वरूप, जाननेके योग्य एवं तत्त्व-ज्ञानसे प्राप्त होने योग्य है तथा सबके हृदयमें विशेषरूपसे

स्थित है। यहाँतक क्षेत्र, ज्ञान और जाननेयोग्य परमात्माके स्वरूपका वर्णन किया गया। भगवान्‌का भक्त उपर्युक्त तत्त्वको जानकर भगवान्‌के स्वरूपको प्राप्त हो जाता है।

अब शेष दो बातें क्षेत्रके विषयमें और दो बातें क्षेत्रज्ञके विषयमें बतलानेके लिये प्रकृति-पुरुषके नामसे प्रकरण आरम्भ करते हैं--

प्रकृति (त्रिगुणमयी माया) और पुरुष (जीवात्मा)— ये दोनों ही अनादि हैं तथा उपर्युक्त इच्छा-द्वेष आदि विकार और त्रिगुणात्मक सम्पूर्ण पदार्थ प्रकृतिसे ही उत्पन्न हुए हैं; क्योंकि कार्य (आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) तथा करण (बुद्धि, अहंकार, मन और श्रोत्र, त्वचा, रसना, नेत्र, घ्राण, वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा) को उत्पन्न करनेमें हेतु प्रकृति है। यह कहकर 'जिस कारणसे जो उत्पन्न हुआ है,' इस बातका स्पष्टीकरण किया गया है।

अब 'क्षेत्रज्ञ (पुरुष) के स्वरूप'का वर्णन करते हैं। जीवात्मा सुख-दुःखोंके भोगनेमें हेतु है। परंतु प्रकृतिमें स्थित पुरुष ही प्रकृतिसे उत्पन्न त्रिगुणात्मक पदार्थोंको भोगता है और इन गुणोंका सङ्ग ही इस जीवात्माके अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेनेका कारण है। वास्तवमें तो यह पुरुष इस देहमें स्थित हुआ भी पर अर्थात् त्रिगुणमयी मायासे सर्वथा अतीत ही है, केवल साक्षी होनेसे उपद्रष्टा, यथार्थ सम्मति देनेवाला होनेसे अनुमन्ता, सबका धारण-पोषण करनेवाला होनेसे भर्ता, जीवरूपसे भोक्ता, ब्रह्मा आदिका भी स्वामी होनेसे महेश्वर और शुद्ध सच्चिदानन्दघन होनेसे परमात्मा कहा गया है। इस प्रकार पुरुषको और गुणोंके सहित प्रकृतिको जो मनुष्य तत्त्वसे जानता है, वह सब प्रकारसे कर्तव्य कर्म करता हुआ भी पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होता। उस परमात्माको कितने ही मनुष्य तो शुद्ध हुई सूक्ष्मबुद्धिसे ध्यानके द्वारा आत्मामें अनुभव करते हैं, अन्य कितने ही ज्ञानयोगके द्वारा और दूसरे कितने ही कर्मयोगके द्वारा अनुभव करते हैं। परंतु इनसे दूसरे जो मन्दबुद्धिवाले पुरुष हैं, वे स्वयं न जाननेके कारण तत्त्वके जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही उनके कथनानुसार श्रद्धासहित तत्परतासे साधन करते हैं; अतः वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसार-सागरको तर जाते हैं।

जितने भी स्थावर-जङ्गम प्राणी हैं, वे क्षेत्र (प्रकृति) और क्षेत्रज्ञ (पुरुष) के संयोगसे ही उत्पन्न होते हैं और प्रलयकालमें सब जगत्‌का विनाश हो जाता है, किंतु चराचर भूतोंमें नाश-रहित परमात्मा समभावसे सदा स्थित हैं, उन भूतोंका नाश होनेपर भी परमात्माका नाश नहीं होता—यह समझना ही असली समझना है। यहाँ शरीरको उत्पत्ति-विनाशशील कहकर क्षेत्रका स्वभाव बतलाया गया है।

सबमें समभावसे स्थित अविनाशी परमात्माको देखनेवाला पुरुष शरीरके नष्ट होनेपर भी अपनेद्वारा अपना नाश नहीं करता। यहाँ शरीरके नाश होनेपर आत्माका नाश मानना ही अपने द्वारा अपना नाश करना है। इस तत्त्वको जाननेवाला मनुष्य परम गतिको प्राप्त होता है; क्योंकि सम्पूर्ण कर्म प्रकृतिद्वारा किये जा रहे हैं—इस तत्त्वको समझनेवाला पुरुष 'प्रकृतिसे उत्पन्न गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं—' इस प्रकार मानता है और आत्माको अकर्ता मानता है; अतः यह मानना ही ठीक है। जिस क्षण मनुष्य भूतोंके पृथक्-पृथक् भावको एक परमात्माके ही संकल्पके आधारपर स्थित देखता है तथा परमात्माके संकल्पसे ही सम्पूर्ण भूतोंका विस्तार देखता है, उस क्षण वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है; क्योंकि उसकी दृष्टिमें एक परमात्माके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं रहता।

अब 'क्षेत्रज्ञका प्रभाव' बतलाते हैं। अनादि और गुणातीत होनेके कारण यह अविनाशी परमात्मा शरीरमें स्थित होनेपर भी वास्तवमें न तो कुछ करता है और न लिप्त ही होता है। जिस प्रकार सर्वत्र व्याप्त आकाश सूक्ष्म होनेके कारण लिप्त नहीं होता, वैसे ही देहमें सर्वत्र स्थित आत्मा गुणातीत होनेके कारण देहके गुणोंसे लिप्त नहीं होता। तथा जिस प्रकार एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको प्रकाशित करता है, उसी प्रकार एक ही आत्मा सम्पूर्ण शरीरको प्रकाशित करता है अर्थात् नित्य बोधस्वरूप एक आत्माकी ही सत्तासे सम्पूर्ण जडवर्ग प्रकाशित होता है।

अब क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका ज्ञान तथा उसका फल बतलाते हैं। यह क्षेत्र जड, विकारी, क्षणिक और नाशवान् है तथा क्षेत्रज्ञ चेतन, निर्विकार, नित्य और अविनाशी है। इन दोनोंके इस तात्त्विक अन्तरको जाननेके साथ-साथ जो कार्यसहित प्रकृतिसे अलग होकर अपने वास्तविक परमात्मस्वरूपमें अभिन्नभावसे प्रतिष्ठित हो जाते हैं, वे महात्मा परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं।

चौदहवाँ अध्याय

इस अध्यायमें सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंके स्वरूपका, उनके कार्य, कारण और शक्तिका तथा वे किस प्रकार किस अवस्थामें जीवात्माको कैसे बन्धनमें डालते हैं और किस प्रकार इनसे छूटकर मनुष्य परम पदको प्राप्त हो सकता

है, तथा इन तीनों गुणोंको लाँघकर परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषके क्या लक्षण हैं—इन्हीं त्रिगुणसम्बन्धी बातोंका विवेचन किया गया है। पहले साधनकालमें रज और तमका त्याग करके सत्त्वगुणको ग्रहण करना और अन्तमें सभी गुणों-से सर्वथा सम्बन्ध त्याग देना चाहिये—इस तत्त्वको समझानेके लिये उन तीनों गुणोंका विभागपूर्वक वर्णन किया गया है। इसलिये इस अध्यायका नाम 'गुणत्रयविभागयोग' रखा गया है।

भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे उस ज्ञानोंमें भी अत्युत्तम परम ज्ञानको पुनः कहा, जिसको जानकर सब मुनि-जन इस संसारसे मुक्त हो परम सिद्धिको प्राप्त हो गये हैं। इस ज्ञानके द्वारा निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्द परमात्माके स्वरूपको अभिन्नभावसे प्राप्त हुए पुरुष सृष्टिके आदिमें पुनः उत्पन्न नहीं होते और प्रलयकालमें भी व्याकुल नहीं होते; क्योंकि उनके अनुभवमें एक सच्चिदानन्द परमात्मासे भिन्न कोई वस्तु है ही नहीं।

अब महासर्गके आरम्भमें होनेवाली प्राणियोंकी उत्पत्तिकी बात कही जाती है। भगवान्की महद्ब्रह्मरूप मूल प्रकृति (त्रिगुणमयी माया) सम्पूर्ण भूतप्राणियोंकी योनि (गर्भाधान-का स्थान) है और भगवान् उसमें चेतनसमुदायरूप गर्भकी स्थापना करते हैं। उस जड-चेतनके संयोगसे सब भूतप्राणियों-की उत्पत्ति होती है। नाना प्रकारकी सब योनियोंमें जितने शरीरधारी प्राणी उत्पन्न होते हैं, प्रकृति तो उन सबकी गर्भ धारण करनेवाली माता है और भगवान् बीजको स्थापित करनेवाले पिता हैं।

अब तीनों गुणोंके स्वरूपका, उनके कार्य, कारण और शक्ति आदिका वर्णन किया जाता है। सत्त्व, रज और तम—ये प्रकृतिसे उत्पन्न तीनों गुण अविनाशी जीवात्माको शरीरमें बाँधते हैं। उन तीनों गुणोंमें सत्त्वगुण तो निर्मल होनेके कारण प्रकाश करनेवाला और विकाररहित है, वह सुख और ज्ञानके अभिमानसे बाँधकर मनुष्यको गुणातीत अवस्थासे वञ्चित कर देता है। कामना और आसक्तिसे उत्पन्न रागरूप रजोगुण इस जीवात्माको कर्मोंके और उनके फलके सम्बन्धसे बाँधता है। समस्त देहाभिमानियोंको मोहित करनेवाला अज्ञानसे उत्पन्न तमोगुण इस जीवात्माको प्रमाद, आलस्य और निद्राके द्वारा बाँधता है। सत्त्वगुण सुखमें, रजोगुण कर्ममें और तमोगुण ज्ञानको ढककर प्रमादमें लगाता है। रजोगुण और तमोगुण-को दबाकर सत्त्वगुण, सत्त्वगुण और तमोगुणको दबाकर रजोगुण और वैसे ही सत्त्वगुण और रजोगुणको दबाकर तमोगुण बढ़ता है। जिस समय इस देहमें तथा अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें चेतनता (आलस्यका अभाव) और विवेक-शक्ति जागती है, उस समय यह जानना चाहिये कि सत्त्वगुण बढ़ा है। रजोगुणके बढ़नेपर लोभ, सांसारिक प्रवृत्ति, स्वार्थ-बुद्धिसे कर्मोंका आरम्भ, मनकी चञ्चलता और विषयभोगोंकी लालसा—ये सब उत्पन्न होते हैं। तमोगुणके बढ़नेपर अन्तः-करण और इन्द्रियोंमें अप्रकाश, कर्तव्यकर्मोंमें अप्रवृत्ति, प्रमाद और निद्रादि अन्तःकरणकी मोहिनी वृत्तियाँ—ये सब उत्पन्न होते हैं। जब यह मनुष्य सत्त्वगुणकी वृद्धिमें मृत्युको प्राप्त होता है, तब तो उत्तम कर्म करनेवालोंके निर्मल दिव्य स्वर्गादि लोकोंको प्राप्त होता है, रजोगुणके बढ़नेपर मृत्युको प्राप्त होकर कर्मोंकी आसक्तिवाले मनुष्योंमें उत्पन्न होता है तथा तमोगुणके बढ़नेपर मरा हुआ मनुष्य कीट, पशु आदि मूढ योनियोंमें उत्पन्न होता है; क्योंकि श्रेष्ठ कर्मका तो सात्त्विक अर्थात् सुख, ज्ञान और वैराग्य आदि निर्मल फल कहा है; राजस कर्मका फल दुःख एवं तामस कर्मका फल अज्ञान कहा है। सत्त्वगुणसे ज्ञान, रजोगुणसे लोभ तथा तमोगुणसे प्रमाद, मोह और अज्ञान उत्पन्न होते हैं। सत्त्वगुणमें स्थित पुरुष स्वर्गादि उच्च लोकोंको जाते हैं, रजोगुणमें स्थित राजस पुरुष मनुष्य-लोकमें ही रहते हैं और तमोगुणके कार्यरूप निद्रा, प्रमाद और आलस्यादिमें स्थित तामस पुरुष कीट, पशु, पक्षी आदि नीच योनियोंको तथा नरकोंको प्राप्त होते हैं।

अब गुणातीत होनेके उपाय और गुणातीत-अवस्थाका फल बतलाया जाता है। जिस समय समष्टि चेतनमें एकी-भावसे स्थित हुआ साक्षी पुरुष तीनों गुणोंके अतिरिक्त अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता और तीनों गुणोंसे अत्यन्त परे सच्चिदानन्दघनस्वरूप परमात्माको तत्त्वसे जान लेता है, उस समय वह परमात्माके स्वरूपको प्राप्त हो जाता है। यह पुरुष शरीरकी उत्पत्तिके कारणरूप इन तीनों गुणोंको लाँघकर जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था और सब प्रकारके दुःखोंसे मुक्त हुआ परमानन्द-रूप परमात्माको प्राप्त होता है।

यह सुनकर अर्जुनने पूछा—'प्रभो! इन तीनों गुणोंसे अतीत पुरुषके क्या-क्या लक्षण होते हैं और किस प्रकारके आचरण होते हैं तथा मनुष्य किस उपायसे इन तीनों गुणोंको लाँघ सकता है?'

इसपर भगवान्ने कहा—'अर्जुन! जो पुरुष सत्त्वगुणके कार्यरूप प्रकाशको, रजोगुणके कार्यरूप प्रवृत्तिको और तमो-

गुणके कार्यरूप मोहके प्रवृत्त होनेपर तो उनसे द्वेष नहीं करता और निवृत्त होनेपर उनकी आकाङ्क्षा नहीं करता, साक्षीके सदृश स्थित हुए जिसको विचलित नहीं कर सकते और गुण ही गुणोंमें बरतते हैं—यों समझता हुआ जो सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एक हुआ स्थित रहता है एवं उस स्थितिसे कभी विचलित नहीं होता; जो निरन्तर आत्मभावमें स्थित ज्ञानी सुख-दुःख, मिट्टी-पत्थर-सुवर्ण, प्रिय-अप्रिय और निन्दा-स्तुतिमें सम रहता है एवं जो मान-अपमानमें तथा मित्र और वैरीके पक्षमें भी सम होता है एवं सम्पूर्ण आरम्भों-में कर्तापनके अभिमानसे रहित होता है, वह पुरुष गुणातीत कहलाता है। जो पुरुष अव्यभिचारी भक्तियोगके द्वारा परमात्मा-को निरन्तर भजता है, वह भी इन तीनों गुणोंको भलीभाँति लाँघकर सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त होनेके योग्य बन जाता है। ब्रह्म, अमृत, अव्यय, शाश्वतधर्म और ऐकान्तिक सुख—ये सब परमात्माके ही नाम हैं; इसलिये परमात्मा ही इनके परम आश्रय हैं।

पंद्रहवाँ अध्याय

इस अध्यायमें सगुण परमेश्वर पुरुषोत्तम भगवान्‌के गुण, प्रभाव और स्वरूपका वर्णन किया गया है। एवं क्षर पुरुष (क्षेत्र), अक्षर पुरुष (क्षेत्रज्ञ) और पुरुषोत्तम (परमेश्वर)—इन तीनोंका वर्णन करके, क्षर और अक्षरसे भगवान् किस प्रकार उत्तम हैं, वे किसलिये 'पुरुषोत्तम' कहलाते हैं, उनको पुरुषोत्तम जाननेका क्या माहात्म्य है और किस प्रकार उनको प्राप्त किया जा सकता है—इत्यादि विषय भलीभाँति समझाये गये हैं। इसी कारण इस अध्यायका नाम 'पुरुषोत्तम-योग' रखा गया है।

भगवान् वैराग्य उत्पन्न करनेके उद्देश्यसे संसारका वृक्षके रूपमें वर्णन करते हुए शरणागतिके द्वारा परम पद प्राप्त करनेकी बात अर्जुनसे इस प्रकार कहने लगे—'आदिपुरुष परमेश्वर जिसके मूल हैं और ब्रह्मा जिसकी मुख्य-शाखा हैं, ऐसे संसाररूप पीपल-के वृक्षको अविनाशी कहते हैं; तथा वेद जिसके पत्ते कहे गये हैं, उस संसाररूप वृक्षको जो पुरुष मूलसहित तत्त्वसे जानता है, वह वेदके तात्पर्यको जाननेवाला है। उस संसारवृक्षकी तीनों गुणरूप जलके द्वारा बढ़ी हुई एवं विषय-भोगरूप कोंपलोंवाली देव, मनुष्य और तिर्यक् आदि योनिरूप शाखाएँ नीचे और ऊपर सर्वत्र फैली हुई हैं तथा मनुष्यलोकमें कर्मोंके अनुसार बाँधनेवाली अहंता, ममता और वासनारूप जड़ें भी नीचे और ऊपर सभी लोकोंमें व्याप्त हो रही हैं। किंतु इस संसार-वृक्षका स्वरूप जैसा बताया जाता है, वैसा यहाँ विचारकालमें नहीं पाया जाता; क्योंकि न तो इसका आदि है, न अन्त है तथा न इसकी अच्छी प्रकारसे स्थिति ही है। इसलिये इस अहंता, ममता और वासनारूप अत्यन्त दृढ़ मूलवाले संसाररूप पीपलके वृक्षको उत्कट वैराग्यरूप शस्त्रद्वारा काटकर उसके पश्चात् उस परम पदरूप परमेश्वरको भलीभाँति खोजना चाहिये, जहाँ गये हुए पुरुष लौटकर संसारमें नहीं आते; और जिस परमेश्वरसे इस पुरातन संसार-वृक्षकी प्रवृत्तिका विस्तार हुआ है, उसी आदिपुरुष नारायणके मैं शरण हूँ—इस प्रकार दृढ निश्चय करके उस परमेश्वरका मनन और निदिध्यासन करना चाहिये। जिनका मान और मोह नष्ट हो गया है, जिन्होंने आसक्तिरूप दोषको जीत लिया है, जिनकी परमात्माके स्वरूपमें नित्य स्थिति है और जिनकी कामनाएँ पूर्णरूपसे नष्ट हो गयी हैं—वे सुख-दुःख नामक द्वन्द्वोंसे विमुक्त ज्ञानी-जन उस अविनाशी परम पदको प्राप्त होते हैं, जिस परम पदको प्राप्त होकर मनुष्य लौटकर संसारमें नहीं आते। उस स्वयंप्रकाश परम पदको न सूर्य प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्रमा और अग्नि ही; वही परमात्माका परम धाम है।

अब जीवात्माके स्वरूप और तत्त्वको जाननेके लिये कहा जाता है। इस देहमें यह सनातन जीवात्मा परमात्माका ही अंश है और वही इन प्रकृतिमें स्थित मन और पाँचों इन्द्रियोंको आकर्षण करता है। जैसे वायु गन्धके स्थानसे गन्धको ग्रहण करके ले जाता है, वैसे ही देहादिका स्वामी जीवात्मा भी जिस शरीरका त्याग करता है, उससे इन मनसहित इन्द्रियोंको खींच करके फिर जिस शरीरमें जाता है, वहाँ ले जाता है। यह जीवात्मा श्रोत्र, चक्षु, त्वचा, रसना, घ्राण और मन—इन सबके सहारेसे ही विषयोंका सेवन करता है; परंतु शरीरको छोड़कर जाते हुए, शरीरमें स्थित हुए और विषयोंको भोगते हुए—इन तीनों गुणोंसे युक्त आत्मतत्त्वको भी अज्ञानीजन नहीं जानते, केवल ज्ञानरूप नेत्रोंवाले ज्ञानी ही तत्त्वसे जानते हैं। यत्न करनेवाले योगीजन भी अपने हृदयमें स्थित इस आत्माको तत्त्वसे जानते हैं; किंतु जिन्होंने अपने अन्तःकरणको शुद्ध नहीं किया है, ऐसे अज्ञानीजन तो यत्न करते रहनेपर भी इस आत्माको नहीं जानते।

अब भगवान्‌का स्वरूप और प्रभाव बतलाया जाता है। सूर्यमें स्थित जो तेज सम्पूर्ण जगत्‌को प्रकाशित करता है तथा जो तेज चन्द्रमामें है और जो अग्निमें है, वह भगवान्‌का ही तेज है। और भगवान् ही पृथ्वीमें प्रवेश करके अपनी शक्तिसे

सब भूतोंको धारण करते हैं और रसस्वरूप (अमृतमय) चन्द्रमा होकर अपनी किरणोंद्वारा सम्पूर्ण वनस्पतियोंको पुष्ट करते हैं। भगवान् ही सब प्राणियोंके शरीरमें स्थित रहनेवाले प्राण और अपानसे युक्त वैश्वानर अग्निरूप होकर भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, चोष्य—इन चारों प्रकारके भोजनको पचाते हैं। भगवान् ही सब प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित हैं तथा भगवान्से ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन (संशय, विपर्यय आदि वितर्क-जालका दूर होना) होता है और सब वेदोंद्वारा भगवान् ही जानने-योग्य हैं तथा वेदान्तके कर्ता और वेदोंके जाननेवाले भी वे ही हैं।

अब क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ और पुरुषोत्तमका स्वरूप, उसको जाननेकी महिमा और उसका फल बतलाया जाता है। इस संसारमें नाशवान् और अविनाशी—दो प्रकारके पुरुष हैं। इनमें सम्पूर्ण भूतप्राणियोंके शरीर तो नाशवान् और जीवात्मा अविनाशी है। इन दोनोंसे उत्तम पुरुष तो अन्य ही है, जो तीनों लोकोंमें प्रवेश करके सबका धारण-पोषण करता है एवं अविनाशी परमेश्वर और परमात्मा—इस प्रकार कहा गया है। क्योंकि भगवान् नाशवान् जडवर्ग—क्षेत्रसे तो सर्वथा अतीत हैं और अविनाशी जीवात्मासे भी उत्तम हैं; इसलिये लोकमें और वेदमें भी वे 'पुरुषोत्तम' नामसे प्रसिद्ध हैं। जो भगवान्को इस प्रकार तत्त्वसे पुरुषोत्तमरूप जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर उन वासुदेव परमेश्वरको ही भजता है। इस प्रकार यह अत्यन्त रहस्ययुक्त गोपनीय शास्त्र भगवान्के द्वारा कहा गया; इसको तत्त्वसे जानकर मनुष्य ज्ञानवान् और कृतार्थ हो जाता है, उसको और कुछ भी करना शेष नहीं रहता।

सोलहवाँ अध्याय

इस अध्यायमें देव-शब्दवाच्य परमेश्वरसे सम्बन्ध रखनेवाले और उनको प्राप्त करा देनेवाले सद्गुणों और सदाचारोंका, उन्हें जानकर धारण करनेके लिये 'दैवी सम्पद्' के नामसे और असुरोंके-जैसे दुर्गुण और दुराचारोंका, उन्हें जानकर त्याग करनेके लिये 'आसुरी सम्पद्'के नामसे विभागपूर्वक विस्तृत वर्णन किया गया है। इसलिये इस अध्यायका नाम 'दैवासुर-सम्पद्-विभागयोग' रखा गया है।

भगवान् अर्जुनको मुक्तिदायक 'दैवी सम्पदा'के लक्षण बतला रहे हैं—भयका सर्वथा अभाव, अन्तःकरणकी पूर्ण निर्मलता, तत्त्वज्ञानके लिये ध्यानयोगमें निरन्तर दृढ़ स्थिति, सात्त्विक दान, इन्द्रियोंका दमन, भगवान्, देवता और गुरुजनोंकी पूजा तथा अग्निहोत्र आदि उत्तम कर्मोंका आचरण, वेद-शास्त्रोंका पठन-पाठन एवं भगवान्के नाम और गुणोंका कीर्तन, स्वधर्मपालनके लिये कष्ट-सहन, शरीर और इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरणकी सरलता, मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी किसीको कष्ट न देना, यथार्थ और प्रिय भाषण, अपना अपकार करनेवालेपर भी क्रोधका न होना, कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका त्याग, चित्तकी चञ्चलताका अभाव, किसीकी भी निन्दादि न करना, सब भूतप्राणियोंमें हेतुरहित दया, इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संयोग होनेपर भी उनमें आसक्तिका न होना, कोमलता, लोक और शास्त्रसे विरुद्ध आचरणमें लज्जा, व्यर्थ चेष्टाओंका अभाव, तेज (प्रभाव), क्षमा, धैर्य, शौचाचार-सदाचारसे आहार-व्यवहारकी पवित्रता, किसीमें भी शत्रुभावका न होना और अपनेमें पूज्यताके अभिमानका अभाव—ये सब तो 'दैवी सम्पदा'को प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण हैं।

अब भगवान् 'आसुरी सम्पदा'के लक्षण कहते हैं। दम्भ (पाखण्ड), घमंड, अभिमान, क्रोध, कठोरता और अज्ञान—ये सब 'आसुरी सम्पदा'को प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण हैं। दैवी सम्पदा मुक्तिका और आसुरी सम्पदा बन्धनका कारण मानी गयी है। अर्जुन! तू शोक मत कर; क्योंकि तू दैवी सम्पदाको प्राप्त है। इस लोकमें भूतोंकी सृष्टि यानी मनुष्य-समुदाय दो ही प्रकारका है—एक तो दैवी प्रकृतिसे युक्त और दूसरा आसुरी प्रकृतिसे युक्त। उनमेंसे दैवी स्वभाववाले मनुष्योंके लक्षणोंका तो विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया, अब तू आसुरी स्वभाववाले मनुष्य-समुदायका भी विस्तारपूर्वक वर्णन मुझसे सुन। आसुरी स्वभाववाले मनुष्य कर्तव्य कार्यमें प्रवृत्त होना और अकर्तव्य कार्यसे निवृत्त होना—इन दोनों बातोंको नहीं जानते हैं, इसलिये उनमें न तो बाहर-भीतरकी शुद्धि होती है, न श्रेष्ठ आचरण होता है और न सत्यभाषण ही होता है। वे आसुरी स्वभाववाले मनुष्य कहा करते हैं कि 'जगत् आश्रयहीन, सर्वथा असत्य और बिना ईश्वरके अपने-आप केवल स्त्री-पुरुषके संयोगसे उत्पन्न हुआ है; अतएव केवल काम ही इसका मूल है। इसके सिवा और क्या है?' इस मिथ्या ज्ञानका अवलम्बन करके जिनका स्वभाव नष्ट हो गया है तथा जिनकी बुद्धि मन्द है, वे सबका अपकार करनेवाले क्रूरकर्मी मनुष्य केवल जगत्के विनाशमें ही कारण बनते हैं। वे दम्भ, मान और मदसे युक्त मनुष्य किसी प्रकार भी पूर्ण न होनेवाली कामनाओंका आश्रय लेकर अज्ञानसे शास्त्र-विरुद्ध कल्पित

सिद्धान्तोंको ग्रहण करके और भ्रष्ट आचरणोंको धारण करके संसारमें विचरते हैं । वे मृत्युपर्यन्त रहनेवाली असंख्य चिन्ताओंका आश्रय लेकर विषय-भोगोंके भोगनेमें तत्पर रहते हैं और 'इतना ही सुख है' ऐसा मानते हैं । वे आशाकी सैकड़ों फाँसियोंसे बँधे हुए मनुष्य काम-क्रोधके परायण होकर विषय-भोगोंके लिये अन्यायपूर्वक धनादि पदार्थोंका संग्रह करनेकी चेष्टा करते रहते हैं । वे सोचा करते हैं कि 'मैंने आज यह प्राप्त कर लिया है और अब इस अभीष्टको प्राप्त कर लूँगा । मेरे पास यह इतना धन है तथा इतना और हो जायगा । वह शत्रु मेरेद्वारा मारा गया और उन दूसरे शत्रुओंको भी मैं मार डालूँगा । मैं ईश्वर हूँ मैं सब प्रकारकी सिद्धियोंसे युक्त, बलवान् और सुखी हूँ । मैं धनी और बड़े कुटुम्बवाला हूँ । मेरे समान दूसरा कौन है । मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा और आमोद-प्रमोद करूँगा ।' इस प्रकार वे अज्ञानसे मोहित रहते हैं । वे अनेक प्रकारसे भ्रमितचित्त होकर, मोह-रूप जालसे समावृत और विषय-भोगोंमें अत्यन्त आसक्त आसुर सम्पदावाले मनुष्य महान् अपवित्र नरकमें गिरते हैं । वे अपनेआपको ही श्रेष्ठ माननेवाले घमंडी मनुष्य धन और बड़प्पनके मदसे युक्त होकर केवल नाममात्रके यज्ञोंद्वारा पाखण्डसे शास्त्रविधिरहित यज्ञ करते हैं । वे अहंकार, बल, घमंड, कामना और क्रोधादिके परायण और निन्दा करनेवाले पुरुष अपने और दूसरोंके शरीरमें स्थित अन्तर्यामी परमात्मासे द्वेष करते रहते हैं । उन द्वेष करनेवाले पापाचारी और क्रूरकर्मी नराधमोंको मैं संसारमें बार-बार शूकर-कूकर आदि आसुरी (नीच) योनियोंमें ही डालता हूँ । वे मूढ़ मुझको न पाकर जन्म-जन्ममें आसुरी योनिको प्राप्त होते हैं, फिर उससे भी अति नीच गतिको पाते हैं अर्थात् घोर नरकोंमें गिरते हैं । काम, क्रोध और लोभ—ये तीन प्रकारके नरकके द्वार आत्माका नाश करनेवाले अर्थात् उसको अधोगतिमें ले जानेवाले हैं । अतएव इन तीनोंको त्याग देना चाहिये; क्योंकि इन तीनों नरकके द्वारोंसे मुक्त हुआ पुरुष अपने कल्याणका आचरण करता है, जिससे वह परम गतिरूप मुझको प्राप्त कर लेता है । जो पुरुष शास्त्रविधिको त्यागकर अपनी इच्छासे मनमाना आचरण करता है, वह न सिद्धिको प्राप्त होता है, न परम गतिको और न सुखको ही । इसलिये इस कर्तव्य और अकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है । यह जानकर तुझे शास्त्रविधिसे नियत किये हुए कर्म ही करने चाहिये ।'

सतरहवाँ अध्याय

इस अध्यायके आरम्भमें अर्जुनने श्रद्धायुक्त पुरुषोंकी निष्ठा पूछी है, उसके उत्तरमें भगवान्‌ने तीन प्रकारकी श्रद्धा बतलाकर श्रद्धाके अनुसार ही पुरुषका स्वरूप बतलाया है । फिर पूजा, यज्ञ, तप आदिमें श्रद्धाका सम्बन्ध दिखलाते हुए अन्तिम श्लोकमें श्रद्धारहित पुरुषोंके कर्मोंको असत् बतलाया गया है । इस प्रकार इस अध्यायमें त्रिविध श्रद्धाकी विभागपूर्वक व्याख्या होनेसे इसका नाम 'श्रद्धात्रय-विभाग-योग' रखा गया है ।

भगवान्‌के उपर्युक्त वाक्य सुनकर अर्जुनको यह जिज्ञासा हुई कि जो लोग शास्त्रविधिको छोड़कर मनमाने कर्म करते हैं, उनके कर्म व्यर्थ हैं—यह तो ठीक है; परंतु ऐसे मनुष्य भी तो हो सकते हैं जो शास्त्रविधिको तो न जाननेके कारण अथवा अन्य किसी कारणसे त्याग देते हैं, पर यज्ञ पूजादि शुभ कर्म श्रद्धापूर्वक करते हैं । उनकी क्या स्थिति होती है, इस जिज्ञासाको लेकर अर्जुनने पूछा—'श्रीकृष्ण ! जो श्रद्धासे युक्त मनुष्य शास्त्रविधिको त्यागकर देवादिका पूजन करते हैं, उनकी स्थिति किस कोटिकी है—सात्त्विकी है अथवा राजसी किंवा तामसी ?' यहाँ अर्जुनके इस प्रश्नसे चार प्रकारके मनुष्योंकी सम्भावना हो सकती है—

(१) जो शास्त्रविधिका पालन भी करते हैं और जिनमें श्रद्धा भी है;

(२) जो शास्त्रविधिका तो किसी अंशमें पालन करते हैं, परंतु जिनमें श्रद्धा नहीं है;

(३) जिनमें श्रद्धा तो है, परंतु जो शास्त्रविधिका पालन नहीं करते;

(४) जो शास्त्रविधिका पालन भी नहीं करते और जिनमें श्रद्धा भी नहीं है ।

इन सबका क्या स्वरूप है, अब प्रश्न यह होता है कि इनकी क्या गति होती है और इनका वर्णन इस अध्यायमें कहाँ आया है ?

इन प्रश्नोंका उत्तर इस प्रकार है—

(१) जिनमें श्रद्धा भी है और जो शास्त्रविधिका पालन भी करते हैं, ऐसे पुरुष दो प्रकारके होते हैं । एक तो सात्त्विक

हैं, जो निष्कामभावसे कर्मोंका आचरण करते हैं और इसके फलस्वरूप मोक्षको प्राप्त होते हैं। इनका वर्णन इस अध्यायके ग्यारहवें, चौदहवेंसे सतरहवें और बीसवें श्लोकोंमें है। दूसरे राजसी हैं, जो सकामभावसे कर्मोंका आचरण करते हैं; इनको जीते-जी इस लोकके सुख और मरनेपर स्वर्गादि लोकोंकी प्राप्ति होती है; इनका वर्णन इस अध्यायके बारहवें, अठारहवें और इक्कीसवें श्लोकोंमें है।

(२) जो लोग शास्त्रविधिका किसी अंशमें पालन करते हुए यज्ञ, दान, तप आदि कर्म तो करते हैं, परंतु जिनमें श्रद्धा नहीं होती, उन पुरुषोंके कर्म असत् (निष्फल) होते हैं; उन्हें इस लोक और परलोकमें उन कर्मोंसे कोई भी लाभ नहीं होता। इनका वर्णन इस अध्यायके अट्ठाईसवें श्लोकमें किया गया है।

(३) जो लोग अज्ञताके कारण शास्त्रविधिका तो त्याग कर देते हैं, परंतु जिनमें श्रद्धा है—ऐसे पुरुष श्रद्धाके भेदसे सात्त्विक भी होते हैं और राजसी तथा तामसी भी। इनकी गति भी इनके स्वरूपके अनुसार ही होती है। इनका वर्णन इस अध्यायके दूसरे, तीसरे और चौथे श्लोकोंमें किया गया है।

(४) जो लोग न तो शास्त्रको मानते हैं और न जिनमें श्रद्धा ही है, वे आसुरी सम्पदावाले लोग नरकोंमें गिरते हैं तथा नीच योनियोंको प्राप्त होते हैं। इस अध्यायके पाँचवें, छठे, तेरहवें, उन्नीसवें और बाईसवें श्लोकोंमें इनका वर्णन आया है।

अर्जुनके उपर्युक्त प्रश्नके उत्तरमें भगवान्ने बतलाया कि मनुष्योंकी वह शास्त्रीय संस्कारोंसे रहित केवल स्वभावसे उत्पन्न श्रद्धा सात्त्विकी, राजसी और तामसी—तीनों प्रकारकी हो सकती है। सभी मनुष्योंकी श्रद्धा उनके अन्तःकरणके अनुरूप होती है। यह जीव (मनुष्य) श्रद्धामय है, इसलिये जिसकी जैसी श्रद्धा है, वैसा ही उसका स्वरूप है, वैसी ही उसकी निष्ठा है। सात्त्विक मनुष्य देवताओंको, राजसी यक्ष-राक्षसोंको तथा तामसी लोग प्रेत और भूतगणोंको पूजते हैं; किंतु जो मनुष्य शास्त्रविधिसे रहित केवल मनःकल्पित घोर तपका अनुष्ठान करते हैं तथा दम्भ, अहंकार, कामना, आसक्ति और बलके अभिमानसे युक्त हैं एवं जो शरीररूपसे स्थित आकाशादि भूत-समुदायको सुखाते और अन्तःकरणमें स्थित परमात्माके अंशरूप जीवको क्लेश पहुँचाते हैं, वे अज्ञानी आसुरी स्वभाववाले हैं।

भोजन, यज्ञ, तप और दान भी तीन-तीन प्रकारके होते हैं। आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाले, रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहनेवाले तथा स्वभावसे ही मनको भानेवाले—ऐसे भोज्य पदार्थ सात्त्विक हैं, अतएव सात्त्विक मनुष्योंको प्रिय लगते हैं। कड़वे, खट्टे, नमकीन, बहुत गरम, तीखे, रूखे, दाहकारक और दुःख, चिन्ता तथा रोगोंको उत्पन्न करनेवाले भोज्य पदार्थ राजस हैं; सुतरां वे राजस पुरुषोंको प्रिय लगते हैं। जो भोजन अधपका, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी, उच्छिष्ट और अपवित्र है, वह तामस है, इसीलिये वह तमोगुणी मनुष्योंको प्रिय लगता है। जो शास्त्रविधिसे नियत, यज्ञ करना ही कर्तव्य है—इस प्रकार मनका समाधान करके, फल न चाहनेवाले पुरुषोंद्वारा किया जाता है, वह यज्ञ सात्त्विक है। जो केवल दम्भाचरणके लिये अथवा फलके उद्देश्यसे किया जाता है, वह यज्ञ राजस है तथा शास्त्रविधि और अन्नदानसे रहित एवं मन्त्र, दक्षिणा और श्रद्धाके विना किया जानेवाला यज्ञ तामस है।

आहार और यज्ञके भेद बतलाकर अब तपका स्वरूप और उसके भेद बतलाये जाते हैं। देवता, ब्राह्मण, गुरु (माता, पिता, आचार्य आदि जो किसी भी प्रकार अपनेसे बड़े हैं) और ज्ञानीजनोंका पूजन (सेवा, आदर-सत्कार), पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह शरीरका तप है। उद्वेग न करनेवाला, प्रिय, हितकारक और यथार्थ भाषण तथा वेद-शास्त्रोंके पठनका एवं परमेश्वरके नाम-जपका अभ्यास है—यह वाणीका तप है। मनकी प्रसन्नता, शान्तभाव, भगवच्चिन्तन करनेका स्वभाव, मनका निग्रह और अन्तःकरणके भावोंकी पूर्ण पवित्रता—यह मनका तप है। फलको न चाहनेवाले योगी पुरुषोंद्वारा परम श्रद्धासे किया हुआ पूर्वोक्त तीन प्रकारका तप सात्त्विक है; किंतु जो सत्कार, मान और पूजा आदिके लिये या पाखण्डसे किया जाता है, वह अनिश्चित और क्षणिक फलवाला तप राजस है। जो मूढ़तापूर्वक हठसे, मन, वाणी और शरीरको पीड़ा देते हुए अथवा दूसरेका अनिष्ट करनेके लिये किया जाता है, वह तप तामस है।

अब दानके भेद बतलाये जाते हैं। दान देना ही कर्तव्य है—इस भावसे जो दान देशकाल और पात्रके प्राप्त होनेपर बदला न चाहकर दिया जाता है, वह दान सात्त्विक है। जो क्लेशपूर्वक तथा बदलेमें अपना सांसारिक स्वार्थसिद्ध करनेकी इच्छासे अथवा फलके उद्देश्यसे दिया जाता है, वह दान राजस है। जो दान विना सत्कारके अथवा तिरस्कारपूर्वक अयोग्य देश-कालमें और कुपात्रके प्रति दिया जाता है, वह तामस है।

अब ॐ, तत्, सत्के प्रयोगका महत्त्व बतलाया जाता है। ॐ, तत्, सत्—ये तीनों सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके नाम हैं। उसी परमात्मासे सृष्टिके आदिकालमें ब्राह्मण, वेद और यज्ञादि रचे गये; इसलिये वेद-मन्त्रोंका उच्चारण करनेवाले श्रेष्ठ पुरुषोंकी शास्त्रविधिसे नियत यज्ञ, दान और तपरूप क्रियाएँ सदा 'ॐ' इस परमात्माके नामका उच्चारण करके ही आरम्भ होती हैं। 'तत्' नामसे कहे जानेवाले परमात्माका ही यह सब है—इस भावसे फलको न चाहकर नाना प्रकारकी यज्ञ, तप और दानरूप क्रियाएँ कल्याणकी इच्छावाले पुरुषोंद्वारा की जाती हैं। 'सत्'—इस परमात्माके नामका सत्य-भाव, श्रेष्ठ भाव और उत्तम कर्ममें प्रयोग किया जाता है। यज्ञ, तप और दानमें जो निष्ठा है और जो उस परमात्माके लिये किया हुआ कर्म है, वह 'सत्' है। बिना श्रद्धाके किया हुआ हवन, दान, तप और जो कुछ भी शुभ कर्म है, वह सब 'असत्' है; इसलिये वह न तो इस लोकमें लाभ-दायक है और न मरनेके बाद ही। इसलिये मनुष्यको चाहिये कि परमात्माके नामका निरन्तर चिन्तन करता हुआ निष्काम भावसे केवल परमेश्वरके लिये शास्त्रविधिसे नियत किये हुए कर्मोंका परम श्रद्धा और उत्साहके सहित आचरण करे।

अठारहवाँ अध्याय

इस अध्यायमें पूर्वोक्त समस्त अध्यायोंका सार संग्रह करके मोक्षके उपायभूत सांख्ययोगका 'संन्यास' के नामसे और कर्मयोगका 'त्याग' के नामसे अङ्ग-प्रत्यङ्गोंसहित वर्णन किया गया है इसलिये तथा साक्षात् मोक्षरूप परमेश्वरमें सम्पूर्ण कर्मोंका संन्यास (त्याग) करनेके लिये कहकर उपदेशका उपसंहार किया गया है इसलिये भी इस अध्यायका नाम 'मोक्ष-संन्यासयोग' रखा गया है।

उपर्युक्त उपदेशको सुनकर अर्जुनने कहा—'हृषीकेश ! मैं संन्यास और त्यागके तत्त्वको पृथक्-पृथक् जानना चाहता हूँ।'

इसपर भगवान् बोले—'अर्जुन ! कितने ही पण्डितजन तो काम्य कर्मोंके त्यागको संन्यास समझते हैं तथा दूसरे विचार-कुशल पुरुष सम्पूर्ण कर्मोंका फल त्यागनेको त्याग कहते हैं। कई एक विद्वान् ऐसा कहते हैं कि कर्ममात्र दोषयुक्त, अतएव त्यागने योग्य हैं और दूसरे विद्वान् यह कहते हैं कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्यागने योग्य नहीं है। परंतु अर्जुन ! संन्यास और त्याग—इन दोनोंमेंसे पहले त्यागके विषयमें तू मेरा निश्चय सुन; क्योंकि त्याग सात्त्विक, राजस और तामस भेदसे तीन प्रकारका कहा गया है। यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंका त्याग करना उचित नहीं है, बल्कि वे तो अवश्य-कर्तव्य हैं; क्योंकि ये तीनों ही कर्म बुद्धिमान् पुरुषोंको पवित्र करनेवाले हैं। इसलिये इन यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंको तथा और भी सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको आसक्ति एवं फलोंका त्याग करके अवश्य करना चाहिये, यह मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है। निषिद्ध और काम्य कर्मोंका तो स्वरूपसे त्याग करना उचित ही है, परंतु नियत कर्मका स्वरूपसे त्याग उचित नहीं है। इसलिये मोहके कारण उसका त्याग कर देना तामस त्याग कहा गया है। शास्त्रविहित कर्मोंको दुःख-रूप समझकर यदि कोई शारीरिक क्लेशके भयसे उन कर्तव्य-कर्मोंका त्याग कर दे तो वह ऐसा राजस त्याग करके त्यागका फल नहीं पाता, अतः शास्त्रविधिसे नियत कर्तव्यकर्मोंको स्वरूपसे न त्यागकर उनकी आसक्ति और फलका त्याग करना ही सात्त्विक त्याग है। जो मनुष्य पापकर्मका त्याग तो करता है पर उनसे द्वेष नहीं करता, बल्कि उनका त्याग करना ही मनुष्यत्व है—इस भावसे उनका त्याग करता है; और शास्त्र-विहित कल्याणकारक कर्म तो करता है पर उनमें आसक्त नहीं होता, वह शुद्ध सत्त्वगुणसे युक्त पुरुष संशयरहित, बुद्धिमान् और सच्चा त्यागी है; क्योंकि किसी भी शरीरधारी मनुष्यके द्वारा सम्पूर्णतासे सब कर्मोंका त्याग किया जाना शक्य नहीं है, इसलिये जो कर्मफलका त्यागी है, वही त्यागी है। कर्मफलका त्याग न करनेवाले मनुष्योंके कर्मोंका तो अच्छा, बुरा और मिला हुआ—ऐसे तीन प्रकारका फल मरनेके पश्चात् भी अवश्य प्राप्त होता है। किंतु कर्मफलका त्याग कर देनेवाले मनुष्योंके कर्मोंका फल किसी कालमें भी नहीं होता; क्योंकि उनके द्वारा होनेवाला कर्म कर्म ही नहीं है।

यहाँतक त्यागका तत्त्व बतलाकर अब भगवान् संन्यास (सांख्य) का तत्त्व बतलाते हैं। सांख्यशास्त्रमें सम्पूर्ण कर्मोंकी सिद्धि (निष्पत्ति)के ये पाँच हेतु कहे गये हैं—अधिष्ठान (शरीर), कर्ता (जीवात्मा), तेरह करण (दस इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहंकार), नाना प्रकारकी चेष्टाएँ और दैव (पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मोंके संस्कार)। मनुष्य मन, वाणी और शरीरसे शास्त्रानुकूल अथवा शास्त्रविरुद्ध जो कुछ भी कर्म करता है, उसमें ये पाँचों कारण बनते हैं। परंतु ऐसा होनेपर भी जो मनुष्य अशुद्ध-बुद्धि होनेके कारण कर्मोंके होनेमें केवल—शुद्धस्वरूप आत्मा-को कर्ता समझता है, वह मलिन-बुद्धिवाला अज्ञानी यथार्थ नहीं समझता। जिस पुरुषके अन्तःकरणमें 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा भाव

नहीं होता तथा जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थों और कर्मोंमें लिप्त नहीं होती, वह पुरुष इन सब लोकोंको मारकर भी वास्तवमें न तो मारता है और न पापसे बँधता है। ज्ञाता (जाननेवाला), ज्ञान (जिससे जाना जाय) और ज्ञेय (ज्ञानका विषय)—इन तीनोंके संयोगसे तो कर्ममें प्रवृत्त होनेकी इच्छा उत्पन्न होती है तथा कर्ता (करनेवाला), करण (जिससे कर्म किया जाय) और क्रिया (चेष्टा)—इन तीनोंके संयोगसे कर्म होते हैं। उन सबमें ज्ञान, कर्म और कर्ता भी गुणोंके भेदसे सांख्य-शास्त्रमें तीन-तीन प्रकारके कहे गये हैं। जिस ज्ञानसे मनुष्य पृथक्-पृथक् सब भूतोंमें एक अविनाशी परमात्मभावको विभाग-रहित समभावसे स्थित देखता है, वह सात्त्विक ज्ञान है। जिस ज्ञानके द्वारा मनुष्य सम्पूर्ण भूतोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारके भावोंको अलग-अलग जानता है, वह राजस ज्ञान है। परंतु जिस विपरीत ज्ञानके द्वारा मनुष्य एक क्षणभङ्गुर नाशवान् शरीरको ही आत्मा मानकर उसमें सर्वस्वकी भाँति आसक्त रहता है तथा जो युक्तिरहित, तात्त्विक अर्थसे शून्य और तुच्छ है, वह तामस ज्ञान है। जो कर्म शास्त्रविधिसे नियत किया हुआ और कर्तापनके अभिमानसे रहित हो तथा फल न चाहनेवाले पुरुषद्वारा बिना राग-द्वेषके किया गया हो, वह सात्त्विक है। (यहाँ 'सात्त्विक कर्म' में तो सांख्यनिष्ठाकी दृष्टिसे कर्तापनके अभिमानका और राग-द्वेषका अभाव दिखलाया गया है और पहले नवें श्लोकमें 'सात्त्विक त्याग' के नामसे कर्मयोगकी दृष्टिसे कर्मोंमें आसक्ति और फलेच्छाका त्याग बतलाया गया है; यही इन दोनोंका भेद है।) परंतु जो कर्म बहुत परिश्रम-साध्य होता है तथा सांसारिक भोगोंके इच्छुक या अहंकारयुक्त पुरुषद्वारा किया जाता है, वह कर्म राजस है। जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्यको न विचारकर केवल अज्ञानसे आरम्भ किया जाता है, वह तामस है। जो कर्ता आसक्तिरहित, अहंकारके वचन न बोलनेवाला, धैर्य और उत्साहसे युक्त तथा कार्यके सिद्ध होने और न होनेमें हर्ष-शोकादि विकारोंसे शून्य रहता है, वह सात्त्विक है। जो कर्ता आसक्तिसे युक्त, कर्म फलका इच्छुक लोभी, दूसरोंको कष्ट देनेके स्वभाववाला, अशुद्धाचारी और हर्ष-शोकसे लिप्त रहता है, वह राजस है। जो कर्ता अयुक्त (मन-इन्द्रियोंको वशमें न रखनेवाला), साधन और शिक्षासे रहित, घमंडी, धूर्त, दूसरोंकी जीविकाका नाशक, शोकयुक्त, आलसी और दीर्घसूत्री है, वह तामस है।

सांख्य-सिद्धान्तके अनुसार बुद्धि और धृतिके भी तीन-तीन भेद हैं। जो बुद्धि प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्गको, कर्तव्य और अकर्तव्यको, भय और अभयको तथा बन्धन और मोक्षको यथार्थरूपमें जानती है, वह सात्त्विकी है। मनुष्य जिस बुद्धिके द्वारा धर्म और अधर्मको तथा कर्तव्य और अकर्तव्यको भी यथार्थरूपमें नहीं जानता, वह बुद्धि राजसी है। जो तमोगुणसे घिरी हुई बुद्धि अधर्मको भी धर्म मान लेती है तथा इसी प्रकार अन्य सम्पूर्ण पदार्थोंको भी विपरीत मान लेती है, वह तामसी है। जिस अव्यभिचारिणी धारणशक्तिसे मनुष्य ध्यानयोगके द्वारा मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको धारण करता है, वह धृति सात्त्विकी है। परंतु फलकी इच्छावाला मनुष्य जिस धारणशक्तिके द्वारा अत्यन्त आसक्तिसे धर्म, अर्थ और कामको पकड़े रहता है, वह धारणशक्ति राजसी है तथा दुष्ट बुद्धिवाला मनुष्य जिस धारणशक्तिके द्वारा निद्रा, भय, चिन्ता, दुःख और उन्मत्तताको भी नहीं छोड़ता—उन्हें धारण किये रहता है, वह धारणशक्ति तामसी है।

अब सांख्य-सिद्धान्तके अनुसार तीन प्रकारके सुख बतलाये जाते हैं। साधक मनुष्य भजन, ध्यान और सेवादिके अभ्याससे जिस सुखमें रमण करता है और जिससे उसके दुःखोंका अन्त हो जाता है, वह आरम्भकालमें विषके तुल्य प्रतीत होनेपर भी परिणाममें अमृतके तुल्य होता है; इसलिये वह परमात्मविषयक बुद्धिके प्रसादसे उत्पन्न होनेवाला सुख सात्त्विक है। जो सुख विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होता है, वह पहले (भोगकालमें) अमृतके तुल्य प्रतीत होनेपर भी परिणाममें विषके तुल्य होता है, इसलिये वह राजस है। जो सुख भोगकालमें तथा परिणाममें भी आत्माको मोहित करनेवाला है, वह निद्रा, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न सुख तामस है। पृथ्वीमें या आकाशमें अथवा देवताओंमें तथा इनके सिवा और कहीं भी ऐसा कोई भी प्राणी या पदार्थ नहीं है, जो प्रकृतिसे उत्पन्न इन तीनों गुणोंसे रहित हो; क्योंकि यह सम्पूर्ण जगत् त्रिगुणमयी मायाका ही विकार है।

अब उपासनासहित कर्मयोगका प्रकरण आरम्भ करते हुए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रके स्वाभाविक नियत कर्म बतलाये जाते हैं।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके कर्म उनके पूर्वकृत कर्मोंके संस्काररूप स्वभावसे उत्पन्न हुए गुणोंके अनुसार विभाजित किये गये हैं। अन्तःकरणका निग्रह, इन्द्रियोंका दमन, धर्मपालनके लिये कष्ट-सहना, बाहर-भीतरकी शुद्धि, क्षमा, मन-इन्द्रिय और शरीरकी सरलता, वेद, शास्त्र, ईश्वर और

परलोक आदिमें श्रद्धा, वेद-शास्त्रोंका अध्ययन-अध्यापन और परमात्माके तत्त्वका अनुभव—ये सब ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म हैं । शूरवीरता, तेज, धैर्य, चतुरता, युद्धमें न भागना, दान देना और स्वामिभाव (निःस्वार्थभावसे सबका हित सोचकर शास्त्रानुसार शासनद्वारा प्रेमपूर्वक पुत्रकी भाँति प्रजा-का पालन करनेका भाव)—ये सब क्षत्रियके स्वाभाविक कर्म हैं । खेती, गोपालन और क्रय-विक्रयरूप सत्य व्यवहार—ये वैश्यके स्वाभाविक कर्म हैं तथा सभी वर्णोंकी सेवा करना शूद्रका स्वाभाविक कर्म है । अपने-अपने स्वाभाविक कर्मोंमें तत्परतासे लगा हुआ मनुष्य जिस रीतिसे भगवत्प्राप्तिरूप परम सिद्धिको प्राप्त होता है, वह रीति बतलायी जाती है । जिससे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त कर लेता है। अतः अच्छी प्रकार आचरण किये हुए दूसरेके धर्मसे गुण-रहित भी अपना धर्म श्रेष्ठ है; क्योंकि स्वभावसे नियत किये हुए स्वधर्मरूप कर्मको निष्कामभावसे करता हुआ मनुष्य पापका भागी नहीं होता । अतएव दोषयुक्त होनेपर भी स्वाभाविक कर्मका त्याग नहीं करना चाहिये; क्योंकि धूएँसे अग्निकी भाँति सभी कर्म किसी-न-किसी दोषसे युक्त हैं ।

अब उपासनासहित ज्ञाननिष्ठा (संन्यास) का वर्णन किया जाता है । जिसकी कहीं भी आसक्ति और स्पृहा नहीं रही है तथा जिसने अपने अन्तःकरणको वशमें कर लिया है ऐसा मनुष्य सांख्ययोगके द्वारा उस परम नैष्कर्म्यसिद्धि (परमात्माके यथार्थ ज्ञान) को प्राप्त कर लेता है, जो ज्ञानयोगकी परा निष्ठा है । उस नैष्कर्म्यसिद्धिको जिस प्रकारसे प्राप्त करके मनुष्य ब्रह्मको प्राप्त होता है, वह प्रकार संक्षेपमें बताया जाता है । जो विशुद्ध बुद्धिसे युक्त तथा हल्का, सात्त्विक, अल्प और नियमित भोजन करता है, शब्दादि विषयोंका त्याग करके एकान्त और शुद्ध देशका सेवन करता है, जिसने सात्त्विक धारणशक्तिके द्वारा अन्तःकरण और इन्द्रियोंका संयम करके मन, वाणी और शरीरको वशमें कर लिया है, राग-द्वेषको सर्वथा नष्ट करके भलीभाँति दृढ़ वैराग्यका आश्रय ले लिया है तथा जो अहंकार, बल, घमंड, काम, क्रोध और परिग्रहका त्याग करके निरन्तर ध्यानयोगके परायण है, वह ममतारहित और शान्तियुक्त पुरुष सच्चिदानन्द ब्रह्ममें अभिन्नभावसे स्थितिके योग्य होता है । फिर वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें एकीभावसे स्थित, प्रसन्न-चित्त योगी न तो किसीके लिये शोक करता है और न आकाङ्क्षा ही । इस प्रकार समस्त प्राणियोंमें सम भाव रखने-वाला योगी परमात्माकी परा भक्ति (ज्ञानकी परा निष्ठा) को प्राप्त कर लेता है । उस परा भक्तिके द्वारा वह परमात्माको, जो और जैसे वे हैं, ठीक वैसा-का-वैसा तत्त्वसे जान लेता है तथा उनको तत्त्वसे जानकर तत्काल ही उनमें प्रवेश कर जाता है ।

अब भगवान् भक्तिप्रधान कर्मयोगका प्रकरण आरम्भ करते हुए कहते हैं—'अर्जुन ! मेरे परायण हुआ कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परम पदको प्राप्त हो जाता है । इसलिये तू सारे कर्मोंको मनसे मुझमें अर्पण करके तथा समबुद्धिरूप योगका अवलम्बन करके मेरे परायण हो जा और चित्तको निरन्तर मुझमें लगाया रख । उपर्युक्त प्रकारसे मुझमें चित्त लगाया रखकर तू मेरी कृपासे जन्म-मृत्यु आदि समस्त संकटोंको अनायास ही पार कर जायगा; पर यदि अहंकारके कारण मेरे वचनोंको नहीं सुनेगा तो परमार्थसे भ्रष्ट हो जायगा । जो तू अहंकारका आश्रय लेकर यह मान रहा है कि "मैं युद्ध नहीं करूँगा," तेरा यह निश्चय मिथ्या है; क्योंकि तेरा क्षत्रियपनका स्वभाव तुझे बलपूर्वक युद्धमें लगा देगा । जिस कर्मको तू मोहके कारण करना नहीं चाहता, उसको भी अपने पूर्वकृत स्वाभाविक कर्मसे बँधा हुआ परवश होकर करेगा; क्योंकि शरीररूप यन्त्रमें आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियोंको अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी मायासे उनके कर्मोंके अनुसार घुमाता हुआ सब प्राणियों-के हृदयमें स्थित है । इसलिये तू सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही शरणमें जा । उस परमात्माकी कृपासे ही तू परम शान्तिको तथा सनातन परमधामको प्राप्त होगा । इस प्रकार यह गुह्यसे भी गुह्यतर ज्ञान मैंने तुझसे कह दिया । अब तू इस रहस्ययुक्त ज्ञानको पूर्णतया भलीभाँति विचारकर फिर जैसी तेरी इच्छा हो, वैसा ही कर ।'

इतना कहनेपर भी अर्जुनका कोई उत्तर न मिलनेके कारण भगवान् अर्जुनपर दया करके पुनः बोले—'अर्जुन ! सम्पूर्ण गोपनीयोंसे भी अत्यन्त गोपनीय मेरे परम रहस्ययुक्त वचनको तू फिर भी सुन; क्योंकि तू मेरा अतिशय प्रिय है, इससे यह परम हितकारक वचन मैं तुझसे कहूँगा । तू केवल मुझ सर्वशक्तिमान् सर्वगुणसम्पन्न सबके आश्रयरूप वासुदेव परमात्मामें ही अनन्य श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे मनको अचल कर दे, मेरा ही नित्य निरन्तर भजन कर, मेरा ही प्रेमपूर्वक पूजन कर और मुझको ही विनयपूर्वक साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम कर । ऐसा करनेसे तू मुझीको ही प्राप्त होगा—

यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ; क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय सखा है। सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मोंको मुझमें त्यागकर (समर्पण कर) तू केवल मुझ सर्वशक्तिमान् सर्वाधार परमात्माकी ही शरणमें चला आ। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।'

इस प्रकार गीताके उपदेशका उपसंहार करके भगवान् अर्जुनसे इसका माहात्म्य बतलाते हुए कहते हैं—

'अर्जुन ! तेरे हितके लिये कहा हुआ यह गीतारूप परम रहस्यमय उपदेश तुझे किसी भी कालमें न तो तपरहित मनुष्यसे कहना चाहिये, न भक्तिरहितसे और न सुनना न चाहनेवालेसे ही कहना चाहिये तथा जो मुझमें दोषदृष्टि रखता हो, उससे तो कभी कहना ही नहीं चाहिये, किंतु इन दोषोंसे रहित मेरे भक्तोंसे प्रेमपूर्वक उत्साहके साथ अवश्य कहना चाहिये; क्योंकि जो पुरुष मुझमें परम प्रेम करके इस परम रहस्ययुक्त गीताशास्त्रको मेरे भक्तोंमें निष्कामभावसे कहेगा,' वह निस्संदेह मुझीको प्राप्त होगा। उससे बढ़कर मेरा अतिशय प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें दूसरा कोई भी नहीं है; यही नहीं, पृथ्वीभरमें उससे बढ़कर मेरा अत्यन्त प्रिय दूसरा कोई भविष्यमें होगा भी नहीं। जो पुरुष हम दोनोंके धर्ममय संवादरूप इस गीताशास्त्रको पढ़ेगा, उसके द्वारा भी मैं ज्ञानयज्ञसे पूजित होऊँगा—ऐसा मेरा मत है। जो मनुष्य श्रद्धायुक्त और दोषदृष्टिरहित होकर इस गीताशास्त्रका श्रवण भी करेगा, वह भी पापोंसे मुक्त होकर उत्तम कर्म करनेवालोंके श्रेष्ठ लोकोंको प्राप्त होगा। पार्थ ! क्या इस गीताशास्त्रका तूने एकाग्र चित्तसे श्रवण किया ? और क्या तेरा अज्ञानजनित मोह नष्ट हो गया ?'

इसपर अर्जुनने कहा—'अच्युत ! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया और मैंने स्मृति प्राप्त कर ली है; अब मैं संशय-रहित होकर स्थित हूँ, अतः आपकी आज्ञाका पालन करूँगा।'

इसके अनन्तर संजयने राजा धृतराष्ट्रसे कहा—'राजन् ! इस प्रकार मैंने श्रीवासुदेवके और महात्मा अर्जुनके इस अद्भुत रहस्ययुक्त, रोमाञ्चकारक संवादको सुना। श्रीव्यासजीकी कृपासे दिव्यदृष्टि पाकर मैंने इस परम गोपनीय योगको अर्जुनके प्रति कहते हुए स्वयं योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णसे प्रत्यक्ष सुना है। भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके इस रहस्ययुक्त, कल्याणकारक और अद्भुत संवादको पुनः-पुनः स्मरण करके मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ। श्रीहरिके उस अत्यन्त विलक्षण रूपको भी पुनः-पुनः स्मरण करते हुए मेरे चित्तमें महान् आश्चर्य होता है और मैं बारंबार पुलकित हो रहा हूँ। राजन् ! विशेष क्या कहूँ—जहाँ योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण हैं और जहाँ गाण्डीव-धनुषधारी अर्जुन हैं, वहींपर श्री, विजय, विभूति और अचल नीति है—ऐसा मेरा मत है।'

श्रीमद्भगवद्गीता भगवान् श्रीकृष्णकी दिव्य वाणी है। यह एक परम रहस्यका विषय है। इसको परम कृपालु भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको निमित्त बनाकर सभी प्राणियोंके हितके लिये कहा है। परंतु इसके प्रभावको वे ही पुरुष जान सकते हैं, जो भगवान्के शरण होकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक इसका अभ्यास करते हैं। इसलिये अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्योंको उचित है कि जितना शीघ्र हो सके, अज्ञाननिद्रासे चेतकर एवं अपना मुख्य कर्तव्य समझकर श्रद्धा-भक्तिके साथ सदा इसका श्रवण, मनन और पठन-पाठनद्वारा अभ्यास करते हुए भगवान्के आज्ञानुसार साधनमें लग जायँ; क्योंकि जो मनुष्य श्रद्धा-भक्तिसे इसका मर्म जाननेके लिये इसके अंदर प्रवेश करके सदा इसका मनन करते हैं एवं भगवदाज्ञानुसार साधन करनेमें तत्पर रहते हैं, उनके अन्तःकरणमें प्रतिदिन नये-नये उत्तम भाव उत्पन्न होते हैं और वे शुद्धान्तःकरण होकर शीघ्र ही परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं।

लालकी अलकैं और अँखियाँ

लालकी अलकैं अतरभरी।
चारु कपोलन पै इत उत सखि ! झूमति हैं बिखरी ॥
कहर करैं निरखत ही सजनी ! बावरि मोहि करी।
'मोहनिदास' कतल करिबे कौं हरदम सान धरी ॥

सत्सङ्ग-सुधा

[गताङ्कसे आगे]

९८. महात्माओंकी दृष्टि पड़ते ही क्षणभरमें जीवन सुधर सकता है। दक्षिणमें एक भक्त हुए हैं, उनका नाम धनुर्दास था। एक वेश्या थी—हेमाम्बा नाम था। बड़ी सुन्दरी थी। उसके रूपपर वे मुग्ध थे। भगवान्‌में भक्ति बिलकुल नहीं थी। शरीर खूब हट्टा-कट्टा था। लोग उन्हें पहलवान कहते थे। बिचारेके अंदर कामवासना नहीं थी, रूपका मोह था। उसे रूप बड़ा प्यारा लगता था। दिन बीतने लगे। रङ्गजीके मन्दिरमें उत्सव प्रतिवर्ष हुआ करता था और वैष्णवाचार्य श्रीरामानुज-जी महाराज मन्दिरमें आया करते थे। लाखोंकी भीड़ होती थी। कीर्तनका दल निकलता था। पहलवानजी और वेश्याके मनमें भी उत्सव देखनेकी एक साल इच्छा हुई। वे लोग भी आये। कीर्तनमें लोग मस्त थे। भगवान्‌की सवारी सजायी गयी थी। हजारों आदमी आनन्दमें पागल होकर नाच रहे थे। पर पहलवानजीको उस वेश्याके मुखकी शोभा देखनेसे ही फुरसत नहीं थी। वे वहाँ भी एकटक उस वेश्या हेमाम्बाको ही देख रहे थे। श्रीरामानुजाचार्यजीकी दृष्टि पड़ गयी। इतने बड़े महात्माकी दृष्टि पड़ी। भाग्य खुल गया। श्रीरामानुजा-चार्यजी बोले—यह कौन है? उनको दया आ गयी थी। लोगोंने यह बात प्रसिद्ध थी ही। सबने सारा हाल कह सुनाया। श्रीरामानुजाचार्यजी डेरेपर गये और कहा, उसे बुला लाओ। पहलवानजी आये। श्रीरामानुजाचार्यजीने पूछा—'भैया! लाखों आदमी भगवान्‌के आनन्दमें डूब रहे थे, पर तुम मलमूत्रके भाण्डपर दृष्टि लगाये हुए थे। ऐसा क्यों?' पहलवानने बताया—'महाराजजी! मैं कामवासनाके कारण उस वेश्याको प्यार नहीं करता, मुझे तो सुन्दरता प्रिय है। हेमाम्बा-जैसी सुन्दरता हमने और कहीं भी नहीं देखी। इसीलिये मेरा मन दिन-रात उसीमें फँसा रहता है।' आचार्यजी बोले—'भैया! यदि इससे भी सुन्दर कोई वस्तु तुम्हें देखनेको मिले तो इसे छोड़ दोगे?' पहलवान बोले—'महाराजजी! इससे भी अधिक सुन्दर कोई वस्तु है, यह मेरी समझमें नहीं आता।' आचार्यजी बोले—'अच्छा, साँझको मन्दिरकी आरती समाप्त होनेके बाद आ जाना। केवल मैं रहूँगा।' पहलवानजी 'अच्छा' कहकर चले गये। श्रीरामानुजाचार्यजी मन्दिरमें गये, भगवान्‌से प्रार्थना की—'प्रभो! आज एक अधमका उद्धार करो। एक बारके लिये उसे अपने त्रिभुवनमोहन रूपकी एक हल्की-सी झाँकी दिखा दो।' इतने बड़े महात्माकी प्रार्थना खाली थोड़े जाती। अस्तु,

साँझको पहलवान आये। श्रीरामानुजाचार्यजी पकड़कर भीतर ले गये और श्रीविग्रह (मूर्ति) की ओर दिखाकर बोले—'देख, ऐसा सौन्दर्य तुमने कभी देखा है?' पहलवानने दृष्टि डाली। एक क्षणके लिये जनसाधारण-की दृष्टिमें दीखनेवाली मूर्ति मूर्ति नहीं रही, स्वयं भगवान् ही प्रकट हो गये और पहलवान उस अलौकिक सुन्दरताको देखते ही मूर्च्छित होकर गिर पड़े। बहुत देरके बाद होश हुआ। होश होनेपर श्रीरामानुजाचार्यजीके चरण पकड़ लिये और बोले—'प्रभो! अब वह रूप ही निरन्तर देखता रहूँ—ऐसी कृपा कीजिये।' फिर श्रीरामानुजाचार्यजीने उसे मन्त्र दिया। वे उनके बहुत प्यारे शिष्योंमें तथा एक बहुत पहुँचे हुए महात्मा हुए।

आज भी ऐसी घटनाएँ होती हैं, पर लोग जान नहीं पाते, यत्किञ्चित् जाननेपर भी अन्तःकरणकी मलिनताके कारण विश्वास नहीं कर पाते।

९९. सूरदासके पूर्वजन्मकी एक विचित्र बात आती है। उद्धव जब व्रजसुन्दरियोंको ज्ञान सिखाने गये थे, तब अन्तमें खूब फटकारे गये। वहाँ फिर गोपियोंने दिखाया कि 'देखो श्यामसुन्दर यहाँसे एक क्षणके लिये भी नहीं गये हैं।' जब उद्धवने यह देखा, तब वे दंग रह

गये । फिर चेष्टा की कि भीतर निकुञ्जमें प्रवेश करें । पर ललिताजीके हुकुमसे रोक दिये गये । उद्धवने खीझकर शाप दे दिया कि जाओ मर्त्यलोकमें । ललिताजीने भी कहा कि तब तुम भी अंधे बनकर वहीं चलो । यह प्रेमका विनोद था। पर आखिर जबान तो उनकी सच होकर ही रहती थी । इसीलिये एक अंशसे ललिताजीने अवतार धारण किया तथा उद्धवने भी एक अंशसे सूरदासके रूपमें जन्म लिया ।

ये ललिताजी अकबर बादशाहके यहाँ एक हिंदू बेगमके पास पलीं । बेगम उन्हें बहुत छिपाकर रखती थीं । पर एक दिन बादशाहने देख लिया । उसने जीवनभरमें ऐसी सुन्दरता देखी ही नहीं थी । बेगम उस लड़कीको बहुत प्यार करती थी तथा सचमुच अपनी लड़कीके समान ही मानती थी ।

एक दिन बेगमने उस लड़कीसे कहा कि 'बेटी ! तू एक दिन मेरा श्रृङ्गार कर दे; क्योंकि तुम्हें जैसा श्रृङ्गार करना आता है, वैसा मैंने कभी नहीं देखा ।' उस लड़कीने मामूली श्रृङ्गार कर दिया। बेगम बादशाहके पास गयी । उस दिन अकबरने बेगमको ऊपरसे नीचेतक देखा तथा उसके रूपको देखकर चकित हो गया । वह बोला—'बेगम ! आज तो मैं तुम्हें देखकर हैरान हूँ; सच बताओ, आज तुमने कोई जादू तो नहीं किया है ।' अन्तमें बेगमने सच बता दिया कि 'मेरी एक बेटी है, उससे मैंने श्रृङ्गारके लिये प्रार्थना की। उसने मुझे मामूली ढंगसे सजा दिया । यदि मनसे सजाती तो पता नहीं क्या होता ।' बादशाहके मनमें पाप आ गया। बेगम उसे लड़की मानती थी, पर बादशाहने एक नहीं सुनी । किंतु मनमें पाप आते ही अकबरके सारे शरीरमें जलन शुरू हो गयी । बड़े-बड़े हकीम उपचार करके हार गये, पर कोई भी लाभ नहीं हुआ । फिर बीरबलने कहा कि यह दैवी कोप है; किसी महात्माकी कृपाके बिना यह दूर नहीं होगा । उस समय सूरदास सबसे बड़े महात्मा माने जाते थे । वे बुलाये गये । सूरदासने कृपापरवश होकर जाना स्वीकार कर लिया । वे आये तथा अकबरको देखकर कहा—'तुम्हारे पापोंके कारण ही यह हुआ है; तुमने जिस बालिकापर बुरी दृष्टि की है, उसीके कारण यह हुआ है ।' फिर सूरदासने कहा, 'अच्छा, तमाशा देखो ।' उस बालिकाके पास खबर भेजी गयी कि एक सूरदास आया है, वह बुलाता है । बालिका हँसी और राजसभामें पहुँची । दोनों एक दूसरेको देखकर हँसे तथा बालिका देखते-ही-देखते अपने-आप जलकर खाक हो गयी । सबको बड़ा अचम्भा हुआ । अकबरने प्रार्थना की । उसीपर सूरदासने एक पद गाकर उसे सारा रहस्य बतलाया कि 'यह बालिका ललिताजीके अंशसे उत्पन्न हुई थी और मैं उद्धवके अंशसे ।'

पता नहीं, यह घटना कहाँतक सत्य है; पर सिद्धान्ततः यह सर्वथा सत्य है कि दिव्यलोकके प्राणी एवं भगवान्‌की लीलाके परिकर इस युगमें भी अपने अंशसे भगवदिच्छासे जन्म धारण करते हैं । इसलिये यह कहा नहीं जा सकता कि किस भेषमें कौन है; सबको साक्षात् भगवान् मानकर सम्मान करनेमें ही लाभ है ।

१००. जो ईमानदार नास्तिक होते हैं अर्थात् ठीक-ठीक जैसा भीतर मानते हैं वैसा ही कहते हैं, दम्भ नहीं करते, उनपर भगवान्‌की कृपा दाम्भिकोंकी अपेक्षा शीघ्र प्रकाशित होती है ।

हालकी बात है । वृन्दावनमें एक महात्मा हैं । वे इस समय भी हैं । खूब भजन करते हैं । पर पहले बहुत नास्तिक थे । कलकत्तेमें रहते थे । दलाली करते थे । श्रीकृष्णकी लीला एवं रासलीलाका मजाक उड़ाया करते थे । बुरी तरह नास्तिक थे । कलकत्तेमें किसीके घरपर रासलीला हो रही थी । वे भी मजाक उड़ानेके लिये देखने गये । रासलीला हो रही थी । कौन-सी लीला थी, यह हमें याद नहीं है । मुझे एक अत्यन्त विश्वासी आदमीने सब बातें बतायी थीं । पर अब पूरी तरह याद नहीं है । जो हो, रासलीला देखते-देखते हठात् श्रीजी

जो बने थे, उनकी जगह एक क्षणके लिये वास्तविक राधारानी प्रकट हो गयीं और केवल उन्हींको दर्शन हुआ। बस, उसी क्षणसे सब छोड़-छाड़कर वृन्दावन चले आये और माला फेरते हैं।

१०१. वृन्दावनके वृक्षोंकी भी बड़ी विचित्र बात। एक महात्माने अत्यन्त विश्वासपूर्ण स्वयं जाँच की हुई कई घटनाएँ हमको एवं भाईजीको सुनायी थीं।

एक पेड़ था। उसे काटनेकी तैयारी हुई। रातमें एक मुसल्मान दारोगा (Sub-Inspector) को स्वप्न हुआ कि 'देखो मैं काशीमें एक विद्वान् ब्राह्मण था, बहुत तपस्या करनेपर मुझे व्रजमें पेड़ होनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है। लोग कल मुझे काटनेकी तैयारी कर रहे हैं, तुम बचाओ।' वह मुसल्मान था, पर सब पता-ठिकाना—आदमीका नामतक स्वप्नमें बताया गया था। इसलिये उसे जाँचनेकी इच्छा हुई। जाँचनेपर सब बातें ज्यों-की-त्यों मिलीं। उसे पहले कुछ भी इस विषयमें ज्ञात नहीं था।

दूसरी घटना उन्होंने सुनायी थी—एक साधु जङ्गलमें एक लताके नीचे शौच होने जाते थे। वहाँ कुछ आवाज आती, पर वे समझ नहीं पाते। फिर उनको या शायद उनके साथीको स्वप्न हुआ या दर्शन हुआ—ठीक याद नहीं, जिससे पता लगा कि उस लताके रूपमें कहींकी एक चमारिनने बड़ी भक्तिसे उसके फलस्वरूप जन्म धारण किया था। उसने बताया कि तुम्हें स्त्रीके पास जाकर शौच होनेमें लाज नहीं आती। मैं रोज तुम्हें चेतावनी देती हूँ, पर तुम समझते नहीं। देखो, व्रजके लता एवं वृक्षोंके नीचे शौच मत जाया करो।' भागवतमें तो स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने यह बात कही है कि यहाँके पेड़ प्रायः बड़े-बड़े ऋषि हैं, जो वृक्ष बनकर मेरा और श्रीबलरामजीका दर्शन करते हैं।

१०२. व्रजमें अब भी बहुतोंको बहुत सुन्दर-सुन्दर अनुभव होते हैं। एक साधु थे। भगवान्‌के दर्शनके लिये सब जगह घूमे, पर कहीं कोई अनुभव नहीं हुआ। सोचा, अब अन्तिम जगह गिरिराज चलें। वहाँ किसी-न-किसी रूपमें दर्शन देनेकी भगवान् अवश्य कृपा करेंगे। व्रजमें आये। न जान, न पहचान। एकादशीका दिन था। फलाहार कहाँ मिले? एक बालक आया। बोला, 'बाबाजी! मेरी माँ एकादशी करती है, ब्राह्मण जिमानेके लिये आपको बुला रही है।' बाबाजी गये, बुढ़ियाने प्रसाद बड़े प्रेमसे दिया। भरपेट खाकर फिर बोले—'वह बालक कहाँ गया माई?' बुढ़िया बोली—'बालक कौन?' वे बोले—'जो हमें लाया था।' बुढ़िया बोली—'मेरा न तो कोई लड़का है, न मैंने किसीको भेजा था। आप आ गये। मैंने अतिथि समझकर आपका सत्कार कर दिया।' ऐसी बहुत-सी घटनाएँ होती रहती हैं।

१०३. श्रीकृष्ण-कृपासे असम्भव सम्भव हो जाता है। श्रीकृष्णकी वंशीध्वनि सुनकर वृन्दावनके पत्थर पिघल जाते थे। आप तो फिर भी मनुष्य हैं। किसी दिन कृपा करके यदि एक हल्की-सी स्वप्नमें भी झाँकी उन्होंने दिखायी तो बस, पागल होकर जीवन भर रोते ही रह जायँगे।

१०४. महाप्रभु संन्यासके बाद जब शान्तिपुरसे नीलाचल रहनेके लिये चलने लगे, तब सब कोई रो-रोकर बेहोश होने लग गये। बड़ा विचित्र दृश्य था। सभी धूलिमें लोटकर छाती फाड़कर रो रहे थे। आँखोंसे आँसूका फव्वारा छूट रहा था। एक श्रीअद्वैताचार्य ऐसे थे कि उनकी आँखोंमें आँसू नहीं थे। ये अद्वैताचार्य कोई साधारण पुरुष नहीं थे। ऐसा इतिहास मिलता है कि चालीस-पचास वर्षतक लगातार इन्होंने तुलसी-गङ्गाजलसे भगवान्‌की पूजा की थी और केवल यही वर माँगते रहे थे कि 'हे नाथ! जीवोंका दुःख देखा नहीं जाता, अवतार लेकर जीवोंको भक्त बनाओ और सबका दुःख मिटा दो।' कहा जाता है कि इनकी प्रार्थनासे ही चैतन्य-महाप्रभुका अवतार हुआ था

सब रो रहे थे, पर इनकी आँखोंमेंसे आँसूकी एक बूँद भी नहीं निकली। महाप्रभु सबको छोड़कर आगे बढ़ गये। केवल अद्वैताचार्य पीछे चलते रहे। महाप्रभु सबसे अधिक इनकी बात मानते थे। महाप्रभुने कहा—'आचार्य! अब लौट जाइये।' अद्वैताचार्यने कहा—'प्रभो! साथ जानेके लिये नहीं आया हूँ; केवल यह कहनेके लिये आया हूँ कि मेरे-जैसा अधम प्राणी, पत्थरके हृदयवाला प्राणी, नीरस प्राणी संसारमें दूसरा आपको नहीं मिलेगा। आप देखिये, आपके जाते समय ऐसा कोई भी नहीं कि जिसकी आँखोंसे आँसूकी धारा न बह रही हो; पर मेरी आँखोंमें एक बूँद भी आँसू नहीं।'

चैतन्य महाप्रभु हँसे और बोले—'देखिये, आपको इसका रहस्य बता देता हूँ, मुझे आपसे काम लेना था। मैंने देखा कि सब लोग तो बेहोश-से होकर गिर जायँगे। कोई एक आदमी ऐसा चाहिये, जो सबको सम्हाल सके। इसलिये यह देखिये मैंने अपने कौपीनमें एक गाँठ बाँधकर आपके प्रेमको रोक रखा है। पर अब जब आप रोना चाहते हैं तो लीजिये, जी भरकर रो लीजिये।' यह कहकर महाप्रभुने गाँठ खोल दी। खोलते ही अद्वैताचार्य बेहोश होकर पछाड़ खाकर गिर पड़े और रोने लगे।

देखें, भगवान्‌की लीला कोई भी नहीं समझ सकता। पर यह ठीक है कि जो प्रेममें रोना चाहेगा, नहीं रोनेके कारण जिसके हृदयमें पीड़ा होती है, उसे भगवान्‌का प्रेम मिलेगा ही और वह रोयेगा ही। पर सम्भव है, उन्हें किसीसे कुछ काम कराना हो, कुछ लीला करानी हो—इसके कारण ही हृदयको सूखा बनाये रखते हों। उनके रहस्यको कौन जाने। मनुष्यको अपनी ओरसे एक ही काम करते रहना चाहिये—अत्यन्त प्रेमसे निरन्तर उनका स्मरण।

१०५. कुछ साल पहले, एक प्रेमी सज्जन वृन्दावन गये थे। नावपर घूमते हुए वृन्दावनकी सैर कर रहे थे। वर्षाका मौसम था। यमुनाजीमें खूब पानी था। संध्याका समय था। इतनेमें खूब वर्षा हुई। टीले, जमीन, रास्ता दीखना बंद हो गया। नावसे उतरकर वे बिचारे अकेले एक किनारे जंगलके पास खड़े थे। इतनेमें देखा कि कुछ गायें आ रही हैं तथा दो बच्चे काली कमली ओढ़े हुए पीछे-पीछे आ रहे हैं। मुझे घटना ठीक-ठीक याद नहीं है। वे शायद रास्ता भूल गये थे। बच्चोंसे पूछा। एक बच्चा बड़ा सुन्दर था। मन बरबस उसकी ओर खिंचता चला जा रहा था। कुछ बात होनेके बाद उसने रास्ता बता दिया और आगे चलने लगा। ये पीछे-पीछे चले। उसने मना किया, पर ये माने नहीं। उसी समय गाय, बच्चे आदि सभी अन्तर्धान हो गये।

कहनेका भाव यह है कि भगवान्‌का दर्शन तो वे जब ठीक समझेंगे, आवश्यक समझेंगे, तब हो जायगा। आपको तो केवल प्रेमपूर्वक भजन करते रहना चाहिये।

१०६. एक ब्राह्मण थे। ऐसी घटना हुई—एक सालके भीतर परिवारमें जितने थे, सभी मर गये, वे अकेले बच गये। श्राद्ध आदि करनेमें ऋण हो गया, मकान गिरवी रखकर रुपया लिया। फिर एक जगह आठ-दस रुपये महीनेकी नौकरी कर ली, इसीसे पाँच-सात रुपये बचाकर किस्तका रुपया भरते जाते थे और बहुत कम खर्चमें काम चलाकर बिहारीजीके मन्दिरमें भजन करते रहते थे।

यह नियम है कि तमस्सुककी पीठपर किस्तका रुपया चढ़ा दिया जाता है। पर उस महाजनके मनमें बेईमानी थी; वह मकान हड़पना चाहता था; इसीलिये चढ़ाता नहीं था। जब रुपया करीब सब भर गया, केवल आठ-दस रुपये बाकी बचे थे, तब उसने पूरे रुपयेकी सूदसहित नालिश कर दी। सम्मन आया। बिचारे ब्राह्मणदेवता बिहारीजीके मन्दिरमें बैठे थे। सुनकर बहुत दुखी हुए, बोले—मैंने तो सब रुपये भर दिये हैं, केवल आठ-दस रुपये बाकी हैं। उसकी विह्वलता देखकर सम्मनवाले चपरासीको दया आ गयी।

उसने कहा—'कोई गवाह है ?' ब्राह्मणने कहा—'कोई नहीं ।' वह बोला—'तो बड़ी दिक्कत है ।' ब्राह्मण बोला—'हाँ, एक गवाह विहारीजी हैं ।' भगवान्‌की कुछ ऐसी लीला कि चपरासीकी समझमें यह आ गया कि सचमुच कोई विहारीजी नामका एक व्यक्ति इसका गवाह है । उस चपरासीने जाकर मुन्सिफसे कह दिया कि हुजूर ब्राह्मण ईमानदार है । महाजन बेईमान है । उस ब्राह्मणका एक गवाह है विहारीजी । उसके नामसे सम्मन निकाल दें । मुन्सिफ भी भला आदमी था । उसने सम्मन निकाल दिया । वही चपरासी फिर आया । ब्राह्मण वहीं बैठे थे । बोले, 'यहीं कहीं होगा । तुम यहीं कहीं साटकर चले जाओ ।' भगवान्‌की लीला थी । उसने समझा क्या हर्ज है । लोगोंको तो पता था कि विहारीजीका अर्थ ये विहारीजी हैं । इसलिये सब लोग हँस रहे थे कि यह कितना मूर्ख है ।

तारीख आयी । उसके पहले दिन रातमें ब्राह्मणने मन्दिरमें जाकर रहनेकी आज्ञा माँगी; पर पुजारी आदि तो हँसते थे, उसके बहुत रोनेपर उन सबने आज्ञा दे दी । वह रातभर रोता रहा । सुबह उसे नींद आ गयी । देखता है कि विहारीजी आये हैं और कह रहे हैं—'रोते क्यों हो, तुम्हारी गवाही मैं जरूर दूँगा ।' नींद खुलते ही वह तो आनन्दमें भर गया और उसे तनिक भी संदेह नहीं रहा—पूरा विश्वास था कि ये मेरी गवाही जरूर देंगे ।

लोगोंमें हलचल मच गयी । उसने कहा—'तुमलोग देखना मेरी गवाही विहारीजी जरूर देंगे ।' बहुत-से आदमियोंने सोचा—चलकर कोर्टमें आज तमाशा देखेंगे । पर भगवान्‌की लीला ! आँधी-पानी आ गया, फलतः बहुत कम आदमी जा सके, फिर भी कुछ-कुछ पुण्यात्मा भाग्यसे चले गये ।

कोर्टमें मुन्सिफके सामने मामला पेश हुआ । मुन्सिफने पूछा—'गवाह आया है ?' ब्राह्मण बोला—'हाँ, हुजूर आया है ।' चपरासीने आवाज लगायी—'विहारी गवाह हाजिर हो !' पहली बार कोई जवाब नहीं, दूसरी [illegible] कोई जवाब नहीं । तीसरी बार जवाब आया—'हाजिर है ।' इतनेमें लोगोंने देखा—एक व्यक्ति अपने सारे शरीरको काले कम्बलसे ढँके हुए आया और गवाहके कठघरेमें जाकर खड़ा हो गया । उसने जरा-सा मुँहका पर्दा हटाकर मुन्सिफको देख लिया । बस, मुन्सिफके हाथसे कलम गिर गयी; वह एकटक कई मिनटतक उसकी ओर देखता रहा । उसकी ऐसी दशा हो गयी, मानो वह बेहोश हो गया हो ।

कुछ देर बाद मुन्सिफ बोला—'आप इसके गवाह हैं ?' वह काले कम्बलवाला बोला—'जी, हाँ ।' आपका नाम ? 'विहारी ।'—आपको मालूम है, इसने रुपये दिये हैं ?—इसपर बड़ी सुन्दर उर्दू भाषामें विहारी गवाह बोले—'हुजूर ! मैं सारे वाक्यात अर्ज करता हूँ ।' इसके बाद बताना शुरू किया । अमुक तारीखको इतने रुपये, अमुक तारीखको इतने रुपये—तारीखवार करीब सौ तारीखें बता दीं । मुद्दईका वकील उठा और बोला—'हुजूर ! यह आदमी है कि लायब्रेरी, कभी आदमीको इतनी तारीख याद रह सकती है ?' विहारी गवाह बोले—'हुजूर ! मुझे ठीक-ठीक याद है, जब यह रुपये देने जाता था, तब मैं साथ रहता था ।' मुन्सिफ—'क्या रुपये बहीमें दर्ज हुए हैं ?' विहारी गवाह—'जी हाँ, सब दर्ज हुए हैं, पर नाम नहीं है । रोकड़ बहीमें उन-उन तारीखोंमें रकम जमा हैं, पर इसका नाम नहीं है । दूसरे झूठे नामसे जमा है ।' मुन्सिफ—'तुम बही पहचान सकते हो ?'

विहारी—'जी हाँ ।'

मुन्सिफने उसी समय कोर्ट बर्खास्त किया और दो-चार चपरासियोंके साथ मुद्दईके मकानपर चला गया । साथ-साथ विहारी गवाह थे । किसीने गवाहका शरीर नहीं देखा, केवल मुन्सिफने मुँह देखा था ।

वहाँ पहुँचकर विहारी गवाहने आलमारी बता दी । [illegible] बहीका इशारा कर दिया कि उस बहीमें है । मुन्सिफने

बही निकलवाकर मिलाना शुरू किया । गवाहने जो तारीखें बतायी थीं, उन्हीं-उन्हींमें उतनी-उतनी रकम दूसरे उचन्तके नामसे जमा थी । अन्तिम तारीख कई पन्नोंके बाद थी । पन्ने उलटनेमें देरी हो गयी । पर वह भी ठीक मिली । पर इतनेमें ही लोगोंने देखा कि बिहारी गवाहका पता नहीं । क्या हुआ, कहाँ गये, कुछ पता नहीं चला । मुन्सिफ कोर्टमें आया । मुकदमे-को डिसमिस कर दिया और स्वयं त्यागपत्र लिखकर साधु हो गया । वे ब्राह्मण और मुन्सिफ शायद दोनों अभी तक वृन्दावनमें जीवित हैं । यह घटना कहीं शायद छपी भी है । सम्भव है, मुझे कुछ हेर-फेरसे सुननेको मिली हो । पर घटना सर्वथा सची है तथा इसमें कुछ भी आश्चर्यकी बात नहीं है । यदि मनुष्यका भगवान्पर सच्चा विश्वास हो तो आज भी ऐसी, इससे भी अद्भुत घटना हो सकती है, होती है ।

सांसारिक कार्योंमें सहायता देना और अपना प्रेम देना भगवान्के लिये तो दोनों ही समान हैं । असलमें भगवान् भक्त-वाञ्छा-कल्पतरु हैं; उनसे हम जो चाहें, वही वे करनेको तैयार हैं । हाँ, चाह सची और दृढ़ विश्वासयुक्त होनेसे ही काम होता है ।

१०७. चटगाँवमें एक कृष्णानन्दजी साधु हैं । इस समय भी हैं । उनका भगवान् श्रीकृष्णके प्रति सखाका भाव है । उन्होंने पूजा करनेके लिये एक श्रीकृष्णकी पत्थरकी प्रतिमा मँगवायी । मँगानेपर उनको पसंद नहीं आयी, बोले—'तुम गड़बड़ करते हो, यह नहीं चल सकती । मैं तुमको तीन दिनका समय देता हूँ; जो मूर्ति मेरे हृदयमें है, वही मूर्ति मुझे चाहिये । नहीं तो तीन दिन बाद मैं तुम्हें गङ्गामें फेंक दूँगा ।' भगवान्को तो विश्वास चाहिये । वे देखते हैं केवल सच्चा विश्वास । उनका विश्वास ठीक था । तीन दिनमें पत्थरकी वही मूर्ति बदलकर इतनी सुन्दर हो गयी कि क्या पूछना है । इस बार गोरखपुरमें उस मूर्तिके फोटोका हमने दर्शन किया था । ऐसा जान पड़ता है मानो जीवित पुरुषका फोटो हो । ऐसे ही आपके ध्यानकी मूर्ति भी विश्वाससे साक्षात् बन सकती है ।

१०८. भगवान्के विषयमें एक विलक्षण बात है । वह यह कि जो व्यक्ति जिस बातके लिये जिस रूपमें विश्वास कर ले कि भगवान् हमारे लिये यह इसी रूपमें कर देंगे, फिर निश्चय समझिये, बिना कुछ भी किये भगवान् उसके लिये वही उसी प्रकार कर देंगे ! यह नहीं कि भजन करो, स्मरण करो । केवल मनमें यह धारणा कर ले कि बस, भगवान् हमारे लिये तो यह कर ही देंगे । भगवत्प्रेमसे लेकर तुच्छ संसारके विषयोंतकके लिये यह नियम लागू है—सबके लिये लागू है ।

कोई कहे कि 'अमुक कार्यमें आजतक तो ऐसा नहीं हुआ, क्या तुम्हारे लिये पहले-पहल होगा ?' इसका जवाब यह है कि यदि तुमने सचमुच यह बात उनपर ढार दी है तो संसारके इतिहासमें पहले-पहल तुम्हारे लिये होगा और अवश्य होगा ।

व्रजप्रेमका नियम है—अमुक बात होनेपर ही यह प्राप्त हो सकता है । पर यदि सचमुच उनपर कोई ढार दे कि हमें तो यह हुए बिना ही प्रेम देना पड़ेगा, तो ठीक मानिये, उसके लिये ही नया नियम बनेगा । ठीक उसकी मान्यताके अनुरूप नियम बनाकर भगवान् उसे व्रजप्रेमका दान कर देंगे ।

१०९. जब दिव्य वृंदावन-लीलाका प्रापञ्चिक जगत्में प्रकाश होता है, तब उसमें भी कई रहस्यकी बातें होती हैं । गतबार जो नन्द-यशोदा हुए थे, उनके विषयमें भागवतमें लिखा मिलता है कि वे दोनों तपस्यासे नन्द-यशोदा बने थे । होता यह है कि जो नित्य लीलावाले नन्द यशोदा हैं, उन्हींका इनमें आवेश हो जाता है । भागवतकी यहाँवाली जो लीला है, वह भी सच्चिदानन्दमयी ही है; पर किसी-किसी अंशमें उसमें प्राकृत संयोग भी कर रहे हैं । विलक्षण देखिये,

रहता है; क्योंकि यह लीला प्रकट ही इसीलिये की जाती है कि इसके द्वारा और-और भक्तोंको इसमें शामिल किया जाय। जो नित्य लीला है, उसमें कंस आदिका वध नहीं होता। वह लीला सर्वव्यापक है, पर प्रत्येक द्वापरके अन्तमें उसी वृन्दावनके स्थानपर प्रकट होती है। वह लीला है तो यहाँ भी, इस कलममें भी है, विश्वके अणु-अणुमें है; पर प्रकट वहीं उस वृन्दावनमें हुआ करती है। नित्य लीलाके जो-जो पार्षद हैं, या तो उनका साक्षात् प्राकट्य होता है या यहाँके जीवोंमें उनका आवेश हो जाता है। श्रीकृष्ण एवं श्रीराधा एवं नित्य सखियाँ तथा नित्य सखा तो साक्षात् आते हैं तथा नन्द-यशोदा—ये दोनों भी कभी साक्षात् आते हैं, पर कभी उनका आवेश भी होता है। जैसे इस बार जो लीला हुई थी, उसमें नित्य नन्द-यशोदाका तपस्यासे बने हुए नन्द-यशोदामें आवेश हो गया था।

असल बात तो यह है कि इसका तत्त्व समझना असम्भव-सा है; क्योंकि असली बात पूछें तो यह प्रश्न वहींतक बनता है, जबतक वह लीला सामने नहीं आती। सामने आनेपर फिर उसके सिवा कुछ बच ही नहीं जाता। केवल वह लीला-ही-लीला रह जाती है। भगवान्‌की यही तो अचिन्त्य शक्ति है कि एक ही स्थानपर एक ही समय इतनी लीलाएँ चल रही हैं। जहाँपर आपको यह घड़ी दीख रही है, वहीं अनादि कालसे जो लीला हुई है, अनन्त कालतक जो होगी, वे सभी लीलाएँ वर्तमान हैं; क्योंकि वस्तुतः घड़ीकी जगह स्वयं भगवान् ही हैं और पूर्णरूपमें हैं। जबतक आपको घड़ी दीखेगी, तबतक भगवान् नहीं दीखेंगे। और जब घड़ीका दीखना बंद हो जायगा और वहाँ भगवान् दीखेंगे, उस समय यह ज्ञान भी सर्वथा लुप्त हो जायगा कि यहाँ पहले घड़ी थी। यह घड़ीका दीखना एवं घड़ीका ज्ञान तो तभीतक हैं, जबतक भगवान् नहीं दीखते। उनके दीखनेपर तो वे-ही-वे रह जायँगे। इसी प्रकार उनकी कोई-सी लीला दीख जानेपर यह प्रश्न नहीं बनेगा कि कौन पीछेकी है; क्योंकि असलमें तो जो कुछ भी है, वह सब भगवान् हैं। यह तो समझानेके लिये है। जबतक भगवान् नहीं दीख रहे हैं, तबतक भेद-ज्ञान—यह ऊँचा, यह नीचा, यह परेकी लीला, यह इधरकी लीला आदि विचार हैं।

आपने जो प्रश्न किया कि 'वे ग्वाले, जिन्हें ब्रह्माजीने छिपा दिया था तथा वे ग्वाल-बाल, जो स्वयं भगवान् ही बने थे—इन दो प्रकारके ग्वाल-सखाओंमें क्या भेद था?' तो वास्तवमें तो कोई भेद नहीं है; क्योंकि पहले भी स्वयं श्रीकृष्ण ही उतने ग्वाले बने हुए थे और फिर ब्रह्माजीके ले जानेपर वे ही उतने और बन गये। इतना कहा जा सकता है कि पहलेवाले जो ग्वालसखा थे, उनमें कई साधनसिद्ध भी सखा थे। दूसरी बार ब्रह्माके ले जानेपर जो सखा प्रकट हुए वे सब-के-सब स्वयं श्रीकृष्ण ही बने थे; सखाओंमें भी नित्य सखा एवं साधन-सिद्ध सखा—ये दो भेद तो हैं ही। आज जिसने साधन किया और साधनसे भगवान्‌की नित्य लीलामें संम्मिलित हुआ, वह साधन-सिद्ध सखा माना जायगा। पर यह मानना भी हमारी-आपकी दृष्टिसे है; श्रीकृष्णकी दृष्टिसे तो वे-ही-वे सदासे हैं और सदा रहेंगे।

यही उनकी विलक्षण, मन-बुद्धिसे अत्यन्त परेकी लीला है कि वे ही जीव, वे ही जगत्, वे ही जगत्‌के मालिक—तीनों बने हुए हैं; परंतु जबतक हम अपने-आपको अनुभव करते हैं, तबतक यह ऊँचे-नीचेका भेद बना ही रहेगा। इसका रहस्य वाणी एवं मनसे समझा ही नहीं जा सकता।

शास्त्र एवं संत कहते हैं—जो है, भगवान् है; जो नहीं है, वह भगवान् है; तथा है, नहीं है,—इन दोनोंसे परे भी भगवान्‌का रूप है, जो अनिर्वचनीय है। पर यह स्थिति भी तो वाणीमें आ गयी, इसलिये असली नहीं है। वह इतनी विलक्षण स्थिति है कि कुछ भी कहना नहीं बनता। यही बात दिव्य लीलाके रहस्यमें भी है। देखनेपर ही कोई यत्किंचित् समझ सकता है कि [illegible] वस्तु है।

४४— [illegible] श्रीराम [illegible]

[illegible] नाश्स, [illegible]

सब भगवान् हैं, यही पहली स्थिति है—जो साधनासे प्राप्त होती है और तब फिर असली स्थिति प्राप्त हो जाती है, जो अनिर्वचनीय है।

बिल्कुल कोई वस्तु भगवान्के सिवा है ही नहीं, यह ज्ञान जिसे है और जिसे नहीं है, वे दोनों भी भगवान् ही बने हुए हैं। पर यह बात कही जाती है कि जबतक सुख-दु:ख होता है, अहंकार है, तबतक साधना करो। परंतु यह अहंकार, यह सुख-दु:ख भी उन्हींका रूप है; फिर साधना क्यों करें ? इसीलिये कि प्राणीकी इच्छा है कि मेरा दु:ख मिट जाय।

११०. मेरी राय तो यह है कि मनुष्य सृष्टि-तत्त्वका, भगवान्के लीला-तत्त्वका निर्णय करने, रहस्य समझनेके फेरमें न पड़कर सरल चित्तसे भगवान्का चिन्तन करे, साधनामें जुट जाय। बाह्य साधनाके अतिरिक्त मानसिक भगवत्सेवाकी साधनामें जुट जाय। नियम बाँध ले कि इतनी-इतनी सेवा तो करनी ही पड़ेगी। यदि यह नहीं हुआ, तब तो फिर आज हमारा सबसे खराब दिन बीता। नहीं होनेपर कुछ प्रायश्चित्तका नियम ले-ले, तब होगा।

व्रजप्रेमकी साधनाका जहाँ शास्त्रोंमें वर्णन है, वहाँ यह आता है कि साधकको स्वयं ठीक उसी प्रकारकी देहकी भावना करके चौबीस घंटे वहीं साथ रहनेका ध्यान करना चाहिये। उसमें नियम बँध जाता है कि यह सेवा हमें करनी है। जैसे मान लें एक सेवा है—हाथ-पैर धुलाना। अब दिनभरमें न जाने कितनी बार इस सेवाका समय आयगा, उस समय तो मनको आना ही पड़ेगा। लगन होनेपर चाहे और सब काम बिगड़ें, पर साधक उतनी देरके लिये, चाहे बीस सेकंड ही क्यों न हो, सब काम छोड़कर जहाँ बैठा हुआ है, जो कर रहा है, सबको गौण करके ध्यानस्थ हो जायगा। अभ्यास होनेपर लोगोंको पता नहीं चलेगा लिखते-पढ़ते, बातचीत करते हुए वह मन-ही-मन वहाँकी सेवा करते रह सकता है।

निरन्तर भगवत्सेवाकी मानसिक भावना करते रहनेसे मनकी क्या अवस्था होती है, यह कुछ इतनी विलक्षण बात है कि मेरा अनुमान है—आपने जो समझा होगा, उससे बिल्कुल नयी बात है। उसकी कल्पना भी अभी नहीं हो सकती कि कैसे क्या-क्या होता है। वह तो केवल वही जान सकता है, जो स्वयं इस ओर पैर बढ़ाये और श्रीकृष्णकी कृपाका आश्रय करके आगे पाँव रखता चला जाय; फिर सारी बात समझमें आती जायगी और बिल्कुल ऐसी अवस्थाका ज्ञान होगा कि वह स्वयं केवल अनुभव कर सकेगा, दूसरोंको समझा नहीं सकेगा।

जैसे हो, एक बार चेष्टा करके भगवान्की लीलामें मनको अच्छी तरह फँसा दें। जब मन टिकेगा, तब फिर स्वयं नयी-नयी चीज़ नया-नया दृश्य मनके सामने भगवान्की दयासे आने लग जायगा। फिर यह जरूरत नहीं रहेगी कि किसीसे चलकर लीला सुनें। भगवान्की कृपासे स्वयं ऐसी विलक्षण-विलक्षण झाँकी—प्रेमसे भरी हुई झाँकी आयगी कि मन आनन्दमें डूबा रहेगा। केवल आप ही उसका आनन्द लेंगे, दूसरेको समझा भी नहीं सकेंगे। भगवान्की पूरी कृपा आपकी सहायता करेगी। जहाँ चेष्टा करने लगे कि नया-नया कुछ-न-कुछ दृश्य दिखा-दिखाकर वे मनको खींचने लगेंगे। आरम्भिक साधनामें किसी दिन तो बेगार-सा बड़ा बुरा मालूम होगा; क्योंकि मन भागना चाहेगा। पर यदि लगन रही तो फिर स्वयं मन लगने लग जायगा और फिर यह चेष्टा नहीं करनी पड़ेगी कि चलो, पन्ना उलटकर लीला पढ़ें; अपने-आप ठीक समयपर वह फिल्मकी तरह माथेमें नाचने लग जायगी। कोई बात करेगा, उसके साथ गौणरूपसे बात भी कर लीजियेगा; पर मन भाग-भागकर वहीं चला आयगा। बिल्कुल ऐसा हो जायगा मानो अपने-आप लीलाकी फिल्म आती चली जा रही हो, एक-पर-एक आती रहेगी। पर प्रारम्भमें थोड़ी साधना करनी पड़ेगी। फिर आगे चलकर सच मानिये भगवान्की कृपासे आपके लिये यह बहुत ही आसान हो जायगा।

चित्त-निग्रह

(लेखक—स्व० श्रीमगनलाल देसाई)

जीवात्माको कर्ता और भोक्ता बनानेवाला चित्त ही है। शरीर चाहे जो क्रिया करे, परंतु उस क्रियामें यदि चित्तका साथ न हो तो उससे मनुष्यको कर्तृत्व नहीं मिलता। शराब पीकर बेहोशीकी हालतमें खून करके उसके दोषसे भी खूनी छूट जाता है। भाँग पीकर बकनेवाले आदमीको होश आनेपर इस बातकी खबर ही नहीं रहती कि वह क्या बक गया था; क्योंकि दोनों प्रसङ्गोंमें चित्त नशेसे परवश होकर केवल संयोगवश कर्म करता है। जो कुछ हमलोग चित्तसे करते हैं, वही किया हुआ समझा जाता है और चित्तसे न किया हुआ कार्य किया नहीं माना जाता। शरीर जड है; इसलिये वह स्वयं कुछ कर सके, ऐसी बात नहीं है। विशुद्ध आत्मा नित्य असङ्ग और चेतन है, इसलिये वह भी कुछ करता नहीं। शरीर और आत्मा दोनोंके बीचका चित्त ही आत्मासे शक्ति प्राप्तकर आत्माके साथ जुड़कर कर्म करता है और जीवात्माको कर्ता-भोक्ता बनाता है। एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें ले जानेवाला चित्त ही है। चित्तसहित चेतनका शरीरमें प्रवेश करना ही 'जन्म' कहलाता है; और वैसे ही शरीर छोड़ना 'मरण' कहलाता है।

जैसे झूठ बोलना और झूठसे बचना—ये दोनों शक्तियाँ मनुष्यमें होती हैं, जैसे बाण छोड़ना और बाणको वापस लेना—ये दोनों शक्तियाँ एक ही मनुष्यमें होती हैं, उसी प्रकार विचार और अविचार—ये दोनों शक्तियाँ चित्तकी हैं। चित्त विचार करके करता है तो शुभ करता है और अविचारसे करता है तो अशुभ करता है। शरीरकी क्रिया रोकनेसे नहीं रुकती, जबतक चित्त न रोका जाय। हमको जिस प्रकारका जीवन वहन करना है, उसी प्रकारका चित्त बनाना पड़ेगा। जैसे मूर्ख हाँकनेवाला गाड़ी, घोड़े और बैठनेवालेको गड्ढेमें जा गिराता है और बुद्धिमान् हाँकनेवाला निश्चित स्थानपर पहुँचा देता है, उसी प्रकार मूर्ख चित्त शरीर, इन्द्रियों और आत्माको विपत्तिमें डालता है और विज्ञ चित्त उन्हें निश्चित स्थानपर ले जाता है। न तो शरीरमें कोई फेर-फार होता है, न आत्मामें होता है; होता है तो वह चित्तमें ही होता है। शरीर और आत्मामें फेर-फारकी इच्छा भी बेकार है; क्योंकि कर्ता चित्त है। इसलिये सारे शास्त्र, सारे धर्म इस चित्तको कल्याण-मार्गपर चलानेके लिये ही अनेकों उपाय बतलाते हैं। चित्तको कल्याण-मार्गपर ले जानेकी युक्तियाँ भिन्न-भिन्न हैं। इस प्रकार रास्ते विभिन्न होनेके कारण धर्मके रूप भी अनेक हो गये। शरीर नश्वर है; और परमात्मा हैं ही; परंतु चित्तका निग्रह किये बिना कल्याण नहीं होता, यह तो सर्वसम्मत है। जो शाश्वत है, वह परमात्मा है। नास्तिकोंके मतमें भी कोई-न-कोई शाश्वत पदार्थ है ही। इन्द्रियोंका भोग यदि किसी सिद्धान्तमें इष्ट माना भी जाता हो, तो भी वह अन्ततः इन्द्रिय-निग्रहके लिये, चित्तकी शान्तिके लिये ही है। सुखकी इच्छा रखनेवालोंको चित्तपर दृष्टि रखनी चाहिये। जैसे ऊधमी बालककी मा बराबर ध्यान रखती है कि बालक कहाँ गया, उसी प्रकार जिज्ञासु पुरुषको बार-बार यह खोज रखनी चाहिये कि चित्त-देवता कहाँ विराज रहे हैं। चित्तके ठहरनेके दो स्थान हैं—एक इन्द्रियोंके भोग और उनके लिये प्रवृत्ति तथा दूसरा आत्मा और उसके लिये प्रवृत्ति।

जैसे जलका प्रवाह स्वभावतः नीचेकी ओर होता है, जैसे वायुकी गति स्वाभाविक ही वक्र होती है और जैसे अग्निकी शिखा स्वभावतः ऊपरकी ओर उठती है, उसी प्रकार चित्तका स्वाभाविक प्रवाह इन्द्रियोंके द्वारा भोगकी ओर होता है। जैसे पतङ्गका स्वाभाविक पतन अग्निकी ओर होता है और उसके द्वारा नाशकी ओर जाता है। जैसे नदीका प्रवाह स्वभावतः समुद्रकी ओर होता है और वह अपने नाशके लिये होता है, उसी प्रकार चित्तका प्रवाह भी इन्द्रियोंके भोगोंकी ओर स्वाभाविक है, और इससे वह अपना, इन्द्रियोंका और देहका नाश ही करता है। परंतु यह उसका स्वभाव है। जैसे भोगकी ओर जानेकी वृत्ति चित्तकी है, वैसे ही भोगकी ओरसे लौटनेकी शक्ति भी उसमें है। निगृहीत चित्त भोगसे लौटता है और अवश चित्त भोगमें फँसा रहता है। चित्तकी सामर्थ्यपर बड़प्पन और छोटापन, दिव्यता या पशुताका भेद निर्भर है। निगृहीत चित्त ही देवता है और भोगमें भटकनेवाला चित्त ही पशु है। निगृहीत चित्त ही परम हितकारी बन्धु है और भोगोंमें विचरनेवाला स्वच्छन्दचित्त सबसे बड़ा वैरी है। पशु-पक्षी सब भोगाधीन होनेके कारण पामर हैं। भोगाधीन चित्त पामर है, दरिद्र है, पराधीन है। भोगमात्र पराधीन है और यह पराधीनता दूसरेसे आशा करवाती है। जो सुख दूसरेके आश्रित होता है, उसकी स्थिरता दूसरेकी स्थिरता और अनुकूलतातक ही होती है। मनुष्यमें भी छोटाई-बड़ाई

चित्तकी वशताके ऊपर ही है। जिसका चित्त विशेष निग्रहीत होता है, वह दूसरोंसे बड़ा है, देवतारूप है; क्योंकि उसका चित्त विशेष निग्रहीत है। निग्रहीत चित्तमें विशेष सामर्थ्य, शक्ति और सिद्धिका उदय होता है, और अनिग्रहीत चित्त भोगसे विविध सामर्थ्यका नाश करता है। भोग पल-पलमें पुण्यका नाश करता है। अभोग पल-पलमें चित्तको निग्रहीत करके विविध शक्तिका संचय करता है। जैसे समान आयवाले खर्चीले और कंजूस—दो मनुष्योंमें कंजूस धन-संचय करता है और खर्चीला उससे वञ्चित रहता है, उसी प्रकार निग्रहीत चित्त पल-पल शक्तिका अर्जन करता है और अनिग्रहीत चित्त शक्तिका क्षय करता है। एक मनुष्य भोग-विशेषमें निग्रहीत होता है और दूसरेमें अनिग्रहीत। इससे जितना भोगमें निग्रह होगा, उतनी ही उसमें सामर्थ्य विशेष आयेगी। पाँच प्रकारके भोग होते हैं। पाँचों प्रकारके भोगसे जिसकी चित्तकी वृत्ति उपरामताको प्राप्त हो गयी है और इस कारण जिसका चित्त आत्मामें सदाके लिये स्थापित हो गया है, वह मुक्त है। चित्तकी भोगमें स्थितिका नाम है जन्म-मरण; चित्तकी आत्मामें स्थितिका नाम है मोक्ष। भोगमें चित्तको रखते हुए जो मोक्षकी इच्छा करता है, वह मानो कमरमें भारी पत्थर बाँधकर सागर तैरनेका इच्छुक है। चित्तसे भोगका त्याग किये बिना, चित्तको भोगमेंसे हटाये बिना कभी चित्त आत्मामें स्थिर होनेका नहीं।

जैसे एक देह छोड़े बिना दूसरा देह सामान्य मनुष्यके द्वारा नहीं धारण किया जा सकता, उसी प्रकार भोगमेंसे चित्तको हटाये बिना आत्मामें चित्तकी स्थिति मुमुक्षुके द्वारा सिद्ध नहीं हो सकती।

चित्त आलम्बनके बिना नहीं रह सकता। चित्तका भोग ही आलम्बन है। भोगसे परिणाममें दुःख तो दीखता है, परंतु आत्माके सुखका अनुभव नहीं होता; इसीसे वह भोग त्यागकर आत्मामें स्थिति नहीं कर सकता। अपने पिताके यहाँ पाली गयी कन्या बड़ी होनेपर विवाह होनेके बाद ससुराल जानेमें हिचकती है, उसी प्रकार चित्त भोग त्यागनेमें हिचकता है। जब ब्याही कन्या परवश होकर ससुराल जाती है और वहाँ पतिसुखका अनुभव करती है, वह वहाँ कठिनतासे रहती है, पर जब पतिगृहमें एकता प्राप्त करती है, तब पितृगृहको भूल जाती है। इसी प्रकार चित्तको जब आत्मसुखका अनुभव होता है, तब वह भोगसुखको छोड़ देता है। आत्मसुखका अनुभव हुए बिना चित्त भोगसुखके रसको छोड़ नहीं सकता। भले ही शरीरसे भोग न भोगे; परंतु उसके अन्तरमें [illegible] कर रहे हैं। तो भोगकी लालसा तभी छूटती है, जब वह आत्मसुखका अनुभव करता है। भोगसुख खण्डित है, क्षणिक है। आत्मसुख अनन्त है। जैसे वस्तुका सुख तभी तक भोगा जाता है, जबतक वह वस्तु रहती है, उसी प्रकार भोगका सुख भोग-पदार्थ प्राप्त होनेतक भोगा जाता है। जैसे मणिका प्रकाश सुलभ है और दीपकका प्रकाश पराधीन है, उसी प्रकार आत्मसुख सुलभ और नित्य है तथा भोगसुख दुर्लभ और अनित्य है। भोगसुख वस्तुके अधीन है और वस्तु पल-पल कालके गालमें चली जा रही है।

केवल भोग-वस्तु ही कालाधीन नहीं, बल्कि भोग भोगनेके साधन—देह और इन्द्रियाँ भी कालाधीन हैं। इसलिये भोग-पदार्थ, देह, इन्द्रियाँ—सब कालाधीन और पराधीन हैं; और इसमें भी भोगसुख भोगके प्राप्ति-कालमें ही रहता है। भोगसे सुख चाहनेवालेको अनेकों क्लेश और कष्ट सहकर भोग प्राप्त करने पड़ते हैं। प्राप्त भोगकी कालसे और परायेसे रक्षा करनी पड़ती है, इन सबमें उसको सुखके बदले दुःखका ही अनुभव करना पड़ता है। भोग प्राप्त करनेके विचारसे जबसे उद्यम शुरू होता है, तबसे उस भोगको प्राप्तकर भोगनेके समयतक तो भोगकी इच्छावालेको सुखके बदले दुःखका ही अनुभव होता है। प्राप्तिके कालमें सुखका लेश अनुभव करनेके बाद, फिर वृत्ति अन्य भोगकी प्राप्तिमें या प्राप्त भोगके क्षणमें लीन हो जाती है। यों एक क्षणके सुखके लिये अनेक क्षणके लंबे समयमें जीव दुःखका अनुभव करता है और इस भोगको प्राप्त करने तथा भोगनेमें भोगके साधन शरीर, इन्द्रियों और बलका नाश ही होता है।

विषयभोग और रसभोग—ये दो मुख्य भोग हैं। विषयभोगसे शरीर, इन्द्रियों और चित्तका बल नष्ट होता है, शरीर क्षीण होता है, वीर्य नाशको प्राप्त होता है, प्राण क्षीण होता है। भोगमात्र पिछले भोगके लिये शरीरको अशक्त करते चले जाते हैं और फिर दूसरे भोगकी वासना प्रदान करते जाते हैं। यह भोगोंकी विशेष खूबी है। भोग भोगनेसे सदाके लिये भोगकी इच्छा मरती नहीं। परंतु भोगके रसका, भोगेच्छाका बीज वह बोता जाता है और उसकी प्राप्तिके लिये आसक्ति प्रदान करता जाता है। यह बड़ी विचित्रता है। प्रत्येक भोग दूसरे भोगोंकी प्राप्तिकी वासना और उसको प्राप्त करनेकी आसक्ति प्रदान करता रहता है। ऐसी परम्परा रहती है, तब चित्त भोगसे कैसे तृप्त हो। शरीर, [illegible] साधनके कम होने और नाशको प्राप्त होनेपर भी [illegible] देख[illegible]

भोगेच्छा न तो घटती और न नाशको प्राप्त होती है, बल्कि ताजी होती जाती है और इसी कारण वह दूसरे शरीरको उत्पन्न करती है। इसीका नाम है पूर्वदेहका मरण और नये देहका जन्म।

देह धारण करना और त्याग करना तथा फिर दूसरा देह धारण करना—यह चक्र न जाने कितने कालसे जीवका चलता आ रहा है। अनेकों दुःखों और क्लेशोंका अनुभव होनेपर भी चित्त इससे विराम नहीं प्राप्त कर रहा है; क्योंकि उसको दूसरा आलम्बन नहीं मिला। जिसे शराबकी लत पड़ गयी है, वह अनेकों प्रकारके दुःख उठाता हुआ भी आदत होनेके कारण जैसे उसको छोड़ नहीं सकता और दुःखमें पड़ा रहता है, उसी प्रकार चित्त दुःख पानेपर भी भोगको नहीं छोड़ सकता।

जैसे नदीके पानीको समुद्रमें जानेसे रोकनेके लिये सुदृढ़ बाँधके सिवा अन्य कोई उपाय सफल नहीं हो सकता, उसी प्रकार चित्तकी वृत्तिको भोगकी ओरसे दृढ़ आग्रहपूर्वक हटानेके सिवा लाख उपाय करनेपर भी वह आत्माकी ओर नहीं लग सकता।

आत्माका अर्थ है—नित्य, सुप्राप्त, शाश्वत, विकार-विनाशरहित अखण्ड सुखका धाम। और भोगका अर्थ है—अनित्य, दुर्लभ, विकारी, विनाशी तथा क्षणिक सुख और अखण्ड दुःखका धाम। इसलिये चित्तको भोगकी ओरसे हटानेके लिये आग्रहपूर्वक भोगविशेषसे निवृत्तिरूप वैराग्यका प्रबल बाँध उसके प्रवाहको रोकनेके लिये बाँधना चाहिये और साथ-ही-साथ दूसरी ओर उस प्रवाहको आत्माकी ओर बहानेका अभ्यास करना चाहिये। वैराग्य और अभ्यासके बिना चित्त आत्मामें स्थितिलाभ नहीं कर सकता।

जैसे पर-स्त्रीलम्पट पुरुष परस्त्रीकी ओरसे मुख मोड़कर यदि अपनी स्त्रीमें पूर्णरूपसे मग्न हो जाय, तभी वह पर-स्त्रीका ख्याल छोड़ सकता है, नहीं तो फिर परस्त्रीमें रत हो जाता है, उसी प्रकार भोगसे लौटा हुआ चित्त आत्मामें स्थिर होनेपर ही भोगको भूल सकता है, नहीं तो फिर भोगोंमें लौट आता है।

अब प्रश्न यह है कि पाँचों भोगोंसे चित्तको कैसे लौटाया जाय तथा आत्मामें उसकी स्थिति कैसे करायी जाय। प्रत्येक भोगके लिये पृथक्-पृथक् उपायोंके साथ पहले 'वैराग्य' के विषयमें समझना है।

चित्त भोगकी इच्छा करता है, उसके पहले [illegible] शान्त अवस्था होती है। चित्त जब शान्त होता है, किसी भी संकल्प या इच्छासे रहित होता है, तब वह अखण्ड सुखका अनुभव करता है। संकल्प, इच्छा, भोग-विचार शान्त चित्तको अशान्त करते हैं। अशान्त चित्त दुःख और क्लेशका अनुभव करता है। अबतक भोगोंमें लगे चित्तको लौटाकर अखण्ड सुखकी इच्छा करनेवाले जिज्ञासुको सर्वप्रथम जीवन-यात्रा चलानेके अतिरिक्त सारे व्यसनों और भोगोंको त्यागनेका अभ्यास करना चाहिये। इस साधनमें सबसे प्रथम सारे व्यसनोंका त्याग करे। व्यसन उसे कहते हैं, जिसके न होनेपर देह तो नष्ट होता नहीं, परंतु जिसके न मिलनेपर मनको चैन नहीं पड़ता। बीड़ी, पान, सुपारी, तंबाकू, अफीम, शराब, चाय, काफी, इत्र, फुलेल आदि जो-जो व्यसन हों, जो मनोरञ्जनके लिये किये जाते हों, उनको आग्रहपूर्वक छोड़े—बलपूर्वक छोड़े। इन व्यसनोंके छोड़ देनेपर चित्तको बहुत आराम मिलता है। चित्तमें शक्ति और स्फूर्ति आने लगती है। खूबी यह है कि ज्यों-ज्यों चित्त व्यसनोंके अधीन होता जाता है, त्यों-ही-त्यों चित्त, शरीर और इन्द्रियोंकी शक्ति नष्ट होती जाती है और धन भी नाशको प्राप्त होता जाता है एवं ज्यों-ज्यों व्यसन छूटता जाता है, त्यों-त्यों बल, बुद्धि, तेज और धन बढ़ता जाता है। इसलिये साधकको कोई भी व्यसन नहीं रखना चाहिये।

इसके बाद किसी भी दूसरेकी कोई भी वस्तु लेने अथवा अपने व्यवहारमें लानेकी बात मनसे भी न सोचे। पर-स्त्री-भोग, पर-धन-हरण, परवस्तुको जाने या अनजाने लेनेकी इच्छा भी न करे। इस साधनासे व्यभिचार चोरी आदि दुराचार, सब बंद हो जाते हैं और अपनी सच्ची मेहनतकी कमाईसे जो कुछ मिले, उसीसे निर्वाह करनेका बल आता है। सच्ची मेहनतकी कमाईसे प्राप्त रोटीमें चित्त शुद्ध करनेकी अद्भुत सामर्थ्य है। अधर्मयुक्त, दूसरेसे छीनी हुई, झूठ-कपट और चोरीसे की हुई कमाईका सूक्ष्म संस्कार भी बुद्धिको मलिन करता है। श्रेयकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको अपने हककी, सच्ची मेहनतकी कमाईके सिवा किसीसे कुछ भी न लेना—दान भी न लेना चाहिये।

फिर ऐसी साधना करे कि अपनी कोई भी क्रिया किसीको दुःख देनेके आशयसे न की जाय। प्रत्येक क्रिया करनेके पहले यह जान ले कि इस क्रियासे किसीको दुःख तो नहीं होता? यह सबसे श्रेष्ठ धर्म है, इसको 'अहिंसा' कहते हैं। [illegible] अर्थ है। अहिंसाका सर्वाङ्गीण पालन करने-

वाला मुक्ति पाता है। डाक्टर रोगीका आपरेशन करता है, वह हिंसा नहीं है। डाक्टरकी यह क्रिया रोगीको दुःख देनेके लिये नहीं, उसे दुःखसे मुक्त करनेके लिये होती है। राजा चोरको दण्ड देता है, वह हिंसा नहीं है; क्योंकि उसकी यह क्रिया चोरको चोरीके दुर्व्यसनसे मुक्त करती है, वह चोरके सुखके लिये होती है। अहिंसाका सारांश यह है कि क्रियाका आशय दूसरोंको दुःख देना कभी नहीं होना चाहिये। किसीके हककी रक्षा करनेमें—जिनका हक नहीं है, उनको दुःख हो तो वह हिंसा नहीं है। विना हकवाले हक न होनेसे दुखी होते हैं, हकवालेकी क्रियासे नहीं।

इसके बाद जिज्ञासु अपने हकके भोगोंमें भी सुखका अभाव देखकर उनसे वृत्ति हटाकर आत्मामें लगाये। जीवन-निर्वाह मात्रके लिये भोजन करे, जीभके स्वादके लिये नहीं। शरीर-रक्षामात्रके लिये वस्त्र पहने, सुन्दरता दिखलानेके लिये नहीं। कीमती वस्त्र पहनना, बाल सँवारना, फैशनवाले कपड़े, आभूषण पहनना आदि सबका धीरे-धीरे त्याग करे। विना स्वादका सादा भोजन करे। पाँचों इन्द्रियोंके जो सम्पूर्ण भोग हैं, उनका धीरे-धीरे त्याग करता जाय। भोगमें सुख समझकर भोगोंमें लिपटा हुआ जीव जब उनमें सुखके बदले दुःख देखता है, तभी उनसे पीछे हट सकता है।

'भोगमें सुख है' इस प्रकारका प्रतिपादन करनेवाला साहित्य जगत्में बहुत पाया जाता है। नाटक, सिनेमा, उपन्यास, कहानी, समाचारपत्र, मासिकपत्रिका, चित्र, परम्परासे चली आयी बातों और भावनाओंने—भोगमें सुख न होनेपर भी 'उसमें सुख है' ऐसा निश्चय मनमें गहरा धँसा दिया है। जैसे शराबके नशेमें बकते हुए आदमीसे हीरेका मूल्य पूछो तो वह कुछ नहीं बता सकता—क्योंकि उसे उसका पता ही नहीं होता, उसी प्रकार भोग-सुखके नशेमें पड़े हुए जीवको आत्मसुखकी कोई कल्पना ही नहीं होती। जबतक नशा नहीं उतरता, तबतक व्यसनी यह ठीक-ठीक नहीं समझ पाता कि वह कौन है। उसी प्रकार भोग-वासनामें फँसा जीव अपने स्वरूपको नहीं जानता। इसलिये जिज्ञासु 'भोगमें सुख है' यह बतलानेवाले सारे सङ्गको छोड़ दे, भोग और भोगीका सङ्ग छोड़ दे। अर्थात् उनके साथमें उतनी ही बात करे, जितनी व्यवहारके लिये अनिवार्य हो। दूसरी बातोंमें पड़े ही नहीं। भोग और भोगीका सङ्ग छोड़े विना लाखों उपायोंसे भोग छूटनेवाले नहीं हैं। भोग और भोगीके सङ्गमें रहकर भोग छोड़नेकी इच्छा करनेवाले मूर्ख हैं, संसारको ठगते हैं, दम्भी हैं या वासनावाले हैं। भोग 'मुझ ज्ञानीका क्या कर लेगा' यह कहनेवाला मूर्ख है, शठ और ठग है, पामर है, दयाका पात्र है।

ज्ञानी वह है, जो भोग और भोग-वासनाको समूल छोड़ चुका है। इस प्रकार भोग और भोगीका सङ्ग छोड़ते समय, मलोंको भोग त्याग करनेवाले तथा भगवत्पथमें चलनेवालोंका संग कराये। जगत्में जिसके पास जो होता है, वही दूसरोंको देता है। भोगी दूसरोंको भोग देता है, साधु दूसरोंको सज्जनता देता है; इसलिये अपनेको जैसा बनना हो, वैसा ही सङ्ग करे। आत्मज्ञानका मनन, भोगमें दुःख देखनेका अभ्यास, संसार नाशवान् और मिथ्या है—यह भावना, एकान्तवास, पवित्र स्थानमें निवास, हरिभक्ति, यथाशक्ति व्रत और उपवास, एवं सत्यका सेवन करे; नीति और सदाचारका पालन करे; मुक्तोंकी जीवनी तथा ईश्वरके अवतारोंकी महिमाकी कथाएँ बाँचे और सुने; साधुओंका सङ्ग करे; मृत्युभयको सदा मनमें रखे; सम्बन्धियोंके सम्बन्ध क्षणिक हैं—जाने तथा मैं कौन हूँ, कहाँसे आया हूँ, कहाँ जाऊँगा, क्या करनेके लिये आया हूँ, क्या करता हूँ और क्या करना चाहिये—इत्यादि विषयोंपर एकान्तमें बैठकर या किसी निर्लोभी, ज्ञानी साधुकी सेवामें रहकर विचार करे; लघु सात्त्विक भोजन करे। न्याय और नीतिके अनुसार, लोकनिन्दा न हो—इस प्रकारकी आजीविका करे। ऐसा कर्म करे, जो प्राणिमात्रके लिये सुखरूप हो। दया रखे, सुपात्रको दान करे, पुण्य-कर्म करे, देवताका पूजन करे, वृद्ध, ज्ञानी, आश्रित तथा साधुकी सेवा करे, ध्यान और अभ्यास करे, जप करे, बाहर और भीतरसे पवित्र रहे, प्राणिमात्रका भला चाहे। प्राणिमात्र परमात्मस्वरूप हैं, यह जानकर सभी प्राणियोंकी यथाशक्ति अपनी क्रियाओंसे सेवा करे। इन और ऐसे ही दूसरे उपायोंसे तथा संतों एवं शास्त्रोंके आज्ञानुसार आचरण करनेसे चित्त भोगोंसे हटकर धीरे-धीरे स्वप्रयत्नमें आगे बढ़ता जायगा। परमात्माकी शरणमें रहे तथा भगवान् सारी आपत्तियोंसे, भोगमात्रसे चित्तको हटाकर निजस्वरूपमें लगा लें, इसके लिये बारंबार उनसे प्रार्थना करे।

शब्दकी महिमा

(लेखक—श्रीविनोबा)

शब्दकी हम बहुत कीमत करते हैं। शब्दमें जो शक्ति है, वह किसी चीजमें नहीं देखी। हमारे जीवनपर जो शब्दका असर है, उसके अनुभवसे हम यह कह रहे हैं। पाणिनिका एक सूत्र है—

'एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुष्ठु
प्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति ।'

'एक शब्दका भी उच्चारण ठीक-ठीक स्वर्गमें तथा इस लोकमें भी कामधुक् होता है। अपनी इस संस्कृत भाषामें शब्द-शक्ति बहुत पहले प्रकट हुई। आपलोग जानते हैं कि अंग्रेजी भाषामें लाखों शब्दोंका संग्रह है। परंतु वह केवल शब्द-संग्रह होता है, उससे शब्द-शक्ति प्रकट नहीं होती। एक-एक यन्त्रके असंख्य पुर्जे होते हैं। एक-एकका अलग-अलग नाम होता है। इस तरह एक-एक यन्त्रसे १०-१०, ५०-५० शब्दोंका उपयोग होता है, परंतु ऐसे शब्दभंडारसे शब्दशक्ति बढ़ती है, यह नहीं। वह तो ऐसा है—जितना जीवनमें परिग्रह बढ़ेगा, कचरा बढ़ेगा, उतने शब्द बढ़ेंगे। वह तो शब्दोंका ढेर ही होगा। उससे विचार-सम्पदा नहीं बढ़ती। वैसे अंग्रेजीमें विचार-सम्पदा बहुत है। लेकिन हम संस्कृतमें जो शब्दकी महिमा देखते हैं, वह महिमा वहाँ नहीं है। ५० नयी-नयी चीजें बनेंगी तो ५० नये शब्द उनके लिये होंगे। परंतु ऐसे शब्दके संग्रहसे व्यर्थ परिग्रह हो जाता है। यह अब पाश्चात्त्य लोग भी समझ गये हैं। इसलिये आप एक-एक यन्त्रके एक-एक पुर्जेको नाम नहीं देते। आँकड़ोंमें नाम देते हैं। किसी यन्त्रका पुर्जा खरीदना है तो कहेंगे फलाने यन्त्रका पुर्जा नम्बर फलाना-फलाना। आँकड़ोंमें ही माँग की जायगी। इस तरह यन्त्रोंके पुर्जोंके अनेक नाम देनेके बजाय आँकड़ोंसे काम लेने लगे। परंतु संस्कृतमें हम क्या देखते हैं?

संस्कृतमें विचारके प्रतिनिधि रूपमें शब्द बनाये गये हैं। उदाहरणके लिये पृथ्वी' एवं 'जमीन' है। इंग्लिशमें कहते हैं 'अर्थ, लैटिनमें कहेंगे 'टेरा'। इस तरह एक शब्द 'अर्थ' और एक शब्द 'टेरा'। लेकिन संस्कृतमें पृथ्वीके लिये पचास शब्द मिल जाते हैं। 'पृथ्वी' यानी फैली हुई। 'धरा'—धारण करनेवाली। 'भूमि'—तरह-तरहके पदार्थोंके जन्म देनेवाली। 'गुर्वी'—भारी, वजनदार। 'उर्वी'—विशाल। 'क्षमा'—सहन करनेवाली। हम लात मारते तो भी वह सहन करती है। इस प्रकार एक-एक शब्द एक-एक गुणकावाचक हैं। एक-एक शब्दके साथ [illegible] एक गुण ध्यानमें आयेगा। अब कवि कवितामें कोई भी शब्द रख देते हैं। देखते हैं कितनी मात्राका शब्द चाहिये। इतनी मात्राका चाहिये तो वे रख देते हैं कवितामें और एक छन्द बना लेते हैं। समझते हैं कि छन्द बनानेके लिये ही इतने शब्द हैं। ये छन्दके लिये नहीं हैं। विशेष गुणदर्शनके लिये, एक-एक वस्तुके लिये अनेक शब्द हैं। जब हम व्यापक फैली हुई 'पृथ्वी' कहते हैं, तब हम उस पदार्थकी तरफ अंदरसे देखने लगते हैं।

इस तरह संस्कृत-शब्दोंमें विचार भरा है। इसलिये हरेक शब्द हमसे बात करता है। इस तरह अंग्रेजी-शब्द बात नहीं करता। 'वाटर' शब्द हमसे बात नहीं करता। हम ही उससे बात करें, तो बात अलग है। लेकिन संस्कृत-शब्द हमसे बात करने लगता है। 'पयः'—पोषण करनेवाला। 'पानीयम्'—तृप्त करनेवाला। 'उदकम्'—अंदरसे बाहर आया हुआ। 'समुद्रम्' छोटा-सा शब्द दिखता है लेकिन वह बात करता है। 'सम्' यानी चारों तरफ समान फैला हुआ। 'उद्' ऊँचा उठा हुआ, ऊँचा आया हुआ पानी। 'रम्' यानी आह्लाददायक, खेलता हुआ, आनन्द-दायक है। तो 'समुद्र'=सम्+उद्+रम्। 'समुद्रात् ऊर्मिः मधुमान् उदारत्।'

वेदने कहा है—इस हृदयमें समुद्रके समान असंख्य भावनाएँ उठती हैं। यह हृदय यानी समुद्र ही है। समुद्रका दृश्य इस हृदयमें प्रकट होता है। 'सी' कहेंगे तो क्या होगा? है एक पदार्थ। वह शब्द बोलता नहीं, मूक है।

'दुग्धम्' दोहन किया हुआ, सारा रूप। 'घृतम्'—अत्यन्त पवित्र, निर्मल, कचरा निकाला हुआ। 'घृतं मे चक्षुः'। विश्वामित्र कहता है 'मेरी आँख घी है।' अंग्रेजी या किसी दूसरी भाषामें यह नहीं देखा गया कि कोई कहे 'मेरी आँख घी है।' 'घृतं मे चक्षुः' कहा गया तो इसका अर्थ यह है—'मेरी चक्षु इतनी पवित्र है कि उसमें किसी प्रकारका पाप ग्रहण करनेकी शक्ति नहीं है। वह अत्यन्त निर्मल और स्वच्छ है।'

'अग्नि' यानी 'फायर'। फायर कहनेसे कुछ हुआ? कुछ नहीं। लेकिन 'अग्नि' अञ्जनादग्निः, रूप प्रकट हो गया, व्यक्त हो गया। 'वह्नि' को वाहक है, ले जाता है,

संदेश-वाहक है। यज्ञमें आहुति डालते हैं तो वह अग्नि आपकी भक्ति ऊपर भगवान्‌के पास पहुँचाता है। तो 'अग्नि-मीळे पुरोहितम्' के बदले 'वह्निमीळे पुरोहितम्' यह नहीं चलेगा। बिल्कुल ही दूसरा अर्थ होगा। इस तरह एक-एक शब्दका विशेष महत्त्व है। संस्कृतमें एक-एक शब्दका व्यक्तित्व है। 'पीयूषम्', 'अमृतम्' 'सुधा'—ये तीन शब्द अमृतके लिये हैं, परंतु हरेकसे विशेष अर्थका बोध होता है। 'अमरा निर्जरा देवाः' अमरकोशका आरम्भ ही इस वाक्यसे होता है। 'अमराः' अलग है और 'निर्जराः' भी अलग है। अमर तो वह है, जो मरता नहीं। लेकिन जो बूढ़े हैं, रोगसे पीड़ित हैं, क्या वे अमर होना पसंद करेंगे? वे भगवान्‌से प्रार्थना करेंगे कि मुझे जल्दी ले जाओ। इसलिये 'निर्जराः' कहा है। 'निर्जराः' यानी जरा-रहित। जरारहित होंगे, तब तो वे अमर हो सकते हैं।

संस्कृतका शब्दकोश भी काव्यमय है। एक शब्दकी कितनी तरहसे व्युत्पत्ति होती है! एक शब्दके अनेक अर्थ और अनेक अर्थोंका वाचक एक शब्द। इसलिये वाक्-प्रकाशन निर्मलतासे संस्कृतमें जितना होता है, उतना शायद ही किसी दूसरी भाषामें होता होगा। मैं कहना चाहता हूँ कि इस देशमें शब्द-शक्ति बहुत है। अरबी, ग्रीक, लैटिन—इनमें भी कुछ शक्ति है। उनकी संस्कृतसे कुछ तुलना हो सकती है। परंतु संस्कृतका शब्द जैसा व्याख्यान देना शुरू करता है वैसे उनके शब्द नहीं देते। 'घट' शब्द है। 'घट' यानी घड़ा। परंतु 'घट'का शरीर अर्थ भी होता है। घड़ेमें पानी रखते हैं, वैसे यह शरीरमें क्या है? पानी ही तो भरा है। हम स्वागत करते हैं पानी भरे हुए घड़ेसे, पूर्ण कुम्भसे। हम क्या दिखाना चाहते हैं? यह सारा हमारा हृदय भक्तिभावसे भरा है—इस अर्थमें वह 'घट' शब्द काम देगा। नानकने कहा है—'प्रभू घट-घटमें भरा है।' हमारे सामने जो बैठे हैं, सब घट ही हैं। सब भरे हैं। ये, पता नहीं, किन चीज़ोंसे भरे हैं। यह भी हो सकता है कुछ नाहक चीज़ोंसे भी भरे होंगे। कहनेका मतलब यह है कि 'घट' शब्दकी यह खूबी है। वह खूबी पॉट कहनेसे प्रकट नहीं होती; क्योंकि घटकी एक घटना है न? यह हमारा शरीर एक घटना रखता है। वैसे तो 'घट' शब्द घटनाका सूचक है। इस तरह अंग्रेजी, फ्रेंच आदि शब्द हमें अपने अंदर पैठने नहीं देते लेकिन यहाँके शब्द हमको अपनेमें प्रवेश देते हैं। इसीलिये शब्दकी शक्ति प्रकट होती है।

'चक्षु' शब्द है। 'चक्ष' धातु निर्मलता, स्वच्छताका [illegible] कर रहे थे। द्योतक है। आँखसे हम जितना बोलते हैं, उतना मुँहसे नहीं बोलते। हमको गुस्सा आता है, तो आँख बोलती है, अंदर करुणा है तो आँख बोलती है। शब्दसे अधिक प्रकाश आँख देती है। उसी तरह 'व्याचक्षत' का अर्थ है व्याख्यान देना। चक्षुसे ही 'व्याख्यान' शब्द निकला है। हम हिंदुस्तानके लोग उतना व्याख्यान सुनना नहीं चाहते, जितनी हमारी महापुरुषोंके दर्शनपर श्रद्धा है। उनके आँखसे जो दिखता है, वह किसीसे भी प्रकट नहीं होता। उनकी आँखोंमें कारुण्य भरा रहता है। 'कारुण्य' यानी क्या? मर्सी, काईन्डनेस—कुछ भी कहें; वह अर्थ प्रकट नहीं होता। परंतु 'करुणा' क्या कहती है? कुछ-न-कुछ करनेकी प्रेरणा देती है। हृदयमें प्रेम है। परंतु करनेकी प्रेरणा नहीं, तो वह करुणा नहीं। करुणा चुप नहीं बैठती। लोग पूछते हैं 'बाबा घूमता क्यों हैं? थकता कैसे नहीं इतना घूमनेपर भी?' तो यह करुणा है, जो घुमाती है। वह कुछ करनेके लिये बाबाको प्रेरित करती है। वह उसे बैठने नहीं देती। किसी बच्चेको बिच्छूने काटा तो क्या हम देखते ही रह जाते हैं? एकदम सेवा करनेके लिये दौड़े जाते हैं। करुणा हमें आसनपर बैठा नहीं रहने देती, उठनेकी ही प्रेरणा देती है। अब यह हमारी 'बुद्धि' है। वह बोध देती है, यह उसका विशेष लक्षण है। अपने सामने शुभ्र वस्त्र हम देखते हैं। शुभ्र यानी क्या? 'शुभ्र' यानी पवित्र। 'शुभ्र' का अर्थ सिर्फ 'ह्वाइट' नहीं। 'शुभ' शब्दके साथ उसका सम्बन्ध है। शोभासे ही उसका सम्बन्ध है। तो सौन्दर्य-पावित्र्य एक कर दिये गये हैं। सामने 'शुक्र' का आकाशमें उदय होता है। शुक्र पवित्र है। 'शुचि' शब्दसे 'शुक्र' हुआ है। उसे देखते हैं तो पावित्र्यकी भावना प्रकट होती है। अब 'सूर्य' है, वह प्रेरणा देता है। 'सू' धातुसे 'सूर्य' बना। 'सू' यानी प्रेरणा देना। 'मित्र' शब्द है। मित्र क्या करता है? प्रेम करता है। सूर्यको 'मित्र' संज्ञा हिंदुस्तानके लोग देते हैं। उसकी किरणोंसे उनके प्रखर होते हुए भी हम घबराते नहीं। मित्र तो वे होते हैं, जो हमसे कार्य कराते हैं। हम सोते रहते हैं तो वह जगाता है, बैठे हैं तो काम करवायेगा। यह सारा यत्न करनेवाला मित्र है। तो 'मित्र' संज्ञा केवल सूर्य-वाचक ही नहीं है, प्रेमसे सबकी सेवा करनेवाला—ऐसा भी अर्थ उसमें आता है। हम यहाँ बैठे हैं। कमरेके दरवाजे बंद हैं, सूर्य वहाँ उग रहा है। वह क्या करता है? बाहर ही बैठ जाता है। हमारी सेवा करना चाहता है। सेवकके नाते [illegible] दरवाजेपर हाथ रखकर खड़ा रहता है। हम थोड़ा-सा विलम्ब देखें [illegible]

दरवाजा खोलेंगे तो थोड़ा-सा ही अंदर आयेगा। एकदम पूरा खोल देंगे तो अंदर मुक्त प्रवेश करेगा। परंतु दरवाजा बंद है, इस वास्ते धक्का नहीं देगा दरवाजेको। खड़ा रहेगा बाहर। यह 'मित्र' की मर्यादा है। कभी गैरहाजिर नहीं रहेगा। स्वामी चाहे सोता रहे देरतक, पर वह नहीं सोयेगा। इस तरह सेवकका पूरा चित्र सूर्यमें हम देख सकते हैं। इस प्रकार शब्द हमसे बोलते हैं।

इस प्रकारकी साहित्य-शक्ति भारतमें है, इसपर आपका अभीतक ध्यान नहीं गया। ध्यान तबतक नहीं जायगा, जबतक हम जीवनके अंदर प्रवेश नहीं करेंगे। 'सुमन' माने उत्तम पुष्प। उसे हम अर्पण करते हैं। यानी हमारा स्वच्छ निर्मल जो मन है, उसे हम अर्पण करते हैं। यह 'सुमन' की खूबी दूसरे शब्दोंमें नहीं है। यह सब ध्यानमें रखकर हमको हमारा चिन्तन ठीक ढंगसे करना है। तभी हिंदुस्तानका चिन्तन दूसरे देशोंसे भिन्न होगा।

आज क्या कहते हैं ? बाहरसे—'इम्पोर्टेड' शब्द लाते हैं। उन शब्दोंको हम अपनी भाषामें ठूँसते हैं। परिणाम यह होता है कि हमारे जीवनमें वह शब्द ऐसिमिलट नहीं होता।

अब सेक्युलर स्टेटकी कल्पना है। बिल्कुल एकाङ्गी कल्पना है। वह हमको ऐसिमिलेट नहीं हो सकती। यूरोपमें वैसी परिस्थिति थी तो वहाँ वैसा रिवाज चल सकता था। हिंदुस्तानमें 'धर्म' शब्द निकला। धर्म माने क्या ? 'सबको धारण करना'। स्टेटको भी धारण करना है। स्टेटका धर्मसे ताल्लुक नहीं, ऐसा कोई कहता है तो उसका हिंदुस्तानमें बिल्कुल ही अलग अर्थ होता है। ऐसा है क्या कि सेक्युलर यानी परलोकका विचार नहीं करना चाहिये, इहलोकका विचार करनेवाली ही यह संस्था है ? फिर भी एकता, समता-को मानते हैं। यानी यह विरोधी कल्पना कैसे मान सकते हैं ? इहलोककी प्रतिष्ठा करेंगे और सबको समान वोटका अधिकार देंगे तो, अब बताइये, समान वोट-अधिकारका अधिष्ठान क्या भौतिक सृष्टिके अनुकूल है ? इसका उत्तर उनके पास नहीं है। बाह्य समानता तो किसी भी हालतमें नहीं हो सकती; क्योंकि एक शख्स बलवान् होता है तो दूसरा दुर्बल। तो हमारे शरीरसे इसका सम्बन्ध नहीं है। अब बुद्धिके आधारपर निर्णय किया गया हो तो किसीको बुद्धि होती है, किसीको नहीं होती। एक घरमें ज्ञानी भी होता है और अज्ञानी भी होता हैं। तो क्या न्याय है सबको एक वोटका अधिकार देनेका ? इसका उत्तर आध्यात्मिक सृष्टिमें गये बिना [illegible] जहाँ आपने एक वोटका अधिकार सबको दिया है, वहाँ आत्मिक एकता आपने कबूल की। अगर बुद्धितक ही आप सीमित रहना चाहते हैं 'तो हरेक मनुष्यको एक वोट' यह विचार समाप्त हो जाता है। फिर भी सबको एक वोट दिया गया है। तो क्या साम्य देखा आपने ? क्या भौतिक साम्य देखा है ? नहीं ! आत्मिक साम्य देखा है ? इसका मतलब यह है कि आपने आत्माकी एकता मान्य की। तो हम केवल भौतिक चिन्तन करते हैं, यह दावा नहीं रह सकता। यानी सेक्युलर स्टेटमें 'स्पिरिच्यूअल व्हैल्यू' मान्य की। 'सेक्युलर स्टेट' शब्दकी न्यूनता ध्यानमें आयी, तब सबको एक वोटका अधिकार दिया गया। ठीक शब्दोंका उपयोग करते हैं तो ठीक है। अन्यथा उससे गलत भी धारणा होती है। 'इंडिपेंडेंस' यह कितना निकम्मा शब्द है। दुनियामें क्या होता है ? हर शख्स एक दूसरेपर अवलम्बित है—तो कहाँ है इंडिपेंडेंस वहाँ। लेकिन स्वराज्य पाज़िटिव अर्थ बताता है। स्वयमेव राज वह होता है। वह स्वयं प्रकाशित होता है। आज यहाँ तो हम परदेशकी ही बुद्धि लेते हैं, तो यह स्वराज्य कैसा होगा ? केवल हमारा राज हम चलाते हैं, इतनेसे हो गया स्वराज ? वेदमें आदित्यको स्वराज्यकी उपमा दी है। सूर्य है 'स्वराट्'; क्योंकि वह स्वयं प्रकाशित है। चन्द्र है पर-प्रकाशित। वेदमें अम्भृणी सूक्तमें कहा गया है—'यतेमहि स्वराज्ये'—'स्वराज्यके लिये हम यत्न करें'। आप क्या समझते हैं—उस जमानेमें किसीका उन ऋषियोंपर राज्य था कि वे परतन्त्र थे ? ऐसा अर्थ नहीं है। मतलब यह है कि जबतक बुद्धि आत्मनिष्ठ नहीं होती, तबतक स्वराज्य नहीं। अंदरसे प्रकाश मिलेगा, तब स्वराज्य प्रकट होगा। परंतु आप कहते हैं इंडिपेंडेंस; परंतु किसीका किसीसे बनता नहीं।

अब कहते हैं 'सोशलिस्टिक स्टेट' बनाना है। हिटलरका भी एक प्रकारका 'सोशलिज्म ही' था। शब्दसे कुछ अर्थ ही नहीं निकलता। व्यक्तिको समाजसे अलग निकालते हैं और समाजको व्यक्तिसे अलग समझते हैं तो कैसा अर्थ निकलेगा ? पहले जो कल्पनासे अलग नहीं हो सकते, उनको अलग कर दिया और फिर दोनोंके बीचका झगड़ा मान्य किया। अब कहते हैं, उसको मिटानेके लिये 'सोशलिज्म' लाना चाहिये।

आज हरेक अपना-अपना इन्टरस्ट देखता है। सारा [illegible] तक हम अपने

शब्दकी शक्ति नहीं पहचानेंगे और पश्चिमसे शब्द लेते जायँगे, तबतक हमारा चिन्तन ऐसा ही गलत ढंगसे जारी रहेगा। हम अपने शब्दोंमें चिन्तन करेंगे तो सारी दुनियासे हमारा चिन्तन भिन्न रहेगा। यह सारा साहित्यिकोंको करना है। अंग्रेजी, चीनी, जापानी, फ्रेंच—अनेक भाषाओंमें साहित्य है। यह ठीक है—जो अच्छी चीज है, हमारे लायक है, वह वहाँसे लेनी चाहिये। ऐसी ही चीज हम लें कि जो हमारे शब्दोंमें पैठती है। अगर वह चीज हमारे शब्दोंमें ठीक पैठती है तो वह कल्पना हमारे लिये ठीक है; अगर नहीं पैठती तो गलत है। बहुत-से गलत शब्द हमारे चिन्तनमें पैठ गये हैं। परिणामस्वरूप गलत चिन्तन होता है। इसलिये शब्द-साधनका कार्य साहित्यिकोंको करना चाहिये। ठीक शब्द लोगोंके सामने रखने चाहिये। तब बहुत-से झगड़े मिटेंगे।

आज एक भाईने हमसे कहा 'अनेक संत पुरुष हो गये। उन्होंने कई बातें कही हैं। परंतु बिना फोर्स क्या कोई काम हो सकता है?' यह सोचनेकी बात है कि इतने संत-महात्मा हो गये, इसीलिये हम आज जैसे हैं, वैसे बने हैं। अगर वे नहीं होते तो हम जानवर बने रहते। सोचते नहीं, हम कहाँसे कहाँ आये हैं। महाभारतमें प्रसङ्ग है। सवाल उपस्थित हुआ कि पत्नीपर पतिका हक है कि नहीं। कठिन सवाल मालूम हुआ। बड़े-बड़े ज्ञानी विद्वान् वहाँ थे; परंतु 'भीष्म, द्रोण, विदुर भए विस्मित'—कोई भी उसका जवाब नहीं दे सका। परंतु आजका बच्चा-बच्चा उसका जवाब जानता है। विदुर यानी क्या? पाणिनिका सूत्र है—'यथा विदुर-भिदुरौ।' अत्यन्त भेद करनेमें प्रवीणको भिदुर कहते हैं। भिदुर यानी तोड़ने-फोड़नेवाला। तोड़ने-फोड़नेवाला तो वज्र होता है। वज्रको 'भिदुर' कहते हैं। सूत्रमें यही बताया गया है कि विद् और भिद्—ये ही दो ऐसे धातु हैं, जिनसे 'उरु' प्रत्यय लगानेपर विशेष अर्थवाले शब्द बने हैं। 'भिद्' धातुसे 'उरु' प्रत्यय लगानेपर भिदुर' बना, जिसका अर्थ होता है भेदन करनेमें प्रवीण। और 'विद्' धातुसे 'उरु' प्रत्यय लगानेपर 'विदुर' बना, जिसका अर्थ है—महाज्ञानी। ऐसा महाज्ञानी वहाँ बैठा है, फिर भी निर्णय नहीं हो सका। सवाल यही था कि 'चैतन्यमय प्राणको बाजीपर लगा सकते हैं कि नहीं' धर्म-राज धर्मनिष्ठ, सत्यनिष्ठ राजा थे। उनको द्यूतका निमन्त्रण दिया गया तो वे 'नहीं' न कह सके। समझते थे कि 'नहीं' कहना धर्मके विरुद्ध है। आज तो कानून भी कहेगा कि द्यूत खेलना 'इल्लिगल' है, 'इम्मारल' है। लेकिन उस वक्त युधिष्ठिर 'नहीं' न कह सके। डर था अधर्म होगा। कितनी छोटी-छोटी कल्पनाएँ थीं। परंतु वहाँसे आप-हम यहाँतक आये हैं। यह सारा सत्पुरुषोंका कार्य है।

आज दुनियामें सब 'वर्ल्ड-पीस'के लिये प्रयत्न कर रहे हैं। लेकिन बनता कुछ नहीं। इसका मतलब यह नहीं कि संतों-महापुरुषोंने जो कार्य किया, उसका कुछ भी असर नहीं हुआ है। 'पीस' इसलिये नहीं है, क्योंकि उस शब्दमें कुछ भी अर्थ नहीं है। वह शब्द ही अर्थशून्य है। जिसको हम 'शान्ति' कहते हैं, वह 'पीस' नहीं है। ×······× ······

×·······× किसी देशपर व्यापारी बहिष्कार डालते हैं। यह बिल्कुल 'पीसफुल ऐक्शन' है। लेकिन इसमें भी हिंसा होती है। तो यह शान्ति नहीं है। तो 'शान्ति' शब्द-का 'पीस'के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। 'पीसफुल' यानी प्रत्यक्ष लाठी नहीं चलायेंगे, अपितु युक्ति-प्रयुक्तिसे किया हुआ काम भी 'पीसफुल' माना जाता है। इसलिये 'पीस' विश्व-शान्ति करनेमें निकम्मी है। पाश्चात्त्य शब्दके परिणाम-स्वरूप हमारे चिन्तनमें सारे विचार-दोष आते हैं। इसीलिये साहित्यिकोंके सामने इतना ही कहना है कि आप शब्द-शुचित्वकी तरफ ध्यान दें। शुद्ध शब्दका आविष्कार होगा तो आचार-विचार शुद्ध होगा।

एक भाईने हमसे पूछा—'तुम दान क्यों माँगते हो?' यह सवाल ही क्यों पैदा होता है? दानका अर्थ मालूम नहीं, इस वास्ते यह सवाल पैदा होता है। शंकराचार्यने दानका अर्थ बताया है—'दानं संविभाजनम्'। 'दा' धातुका अर्थ ही 'विभाजन' होता है। 'दा' का अर्थ है—दो टुकड़े करना। विभाजन करना—यह मूल अर्थ है। अब ये सारी चीजें मालूम हों, तब तो शङ्का नहीं आयेगी। यह मालूम नहीं है, इसलिये दान खराब मालूम होता है। दया खराब, करुणा खराब, वैराग्य खराब, संन्यास खराब। तो बताइये, क्या अच्छा है? यानी इससे अच्छे-से-अच्छे अर्थवाले शब्द खतम हो गये। तो आखिर बचा क्या? इसलिये हमको लगा कि हम कुछ अपने विचार आपके सामने रख दें।

प्रेषक—दुर्गाप्रसाद

धातु ... र कर रहे हैं। विज्ञान देख...

प्रार्थनामय जीवन

(लेखक—श्रीमधुसूदनजी वाजपेयी)

[गताङ्कसे आगे]

(४)

रचनात्मक विचारधारा

रचनात्मक विचारधाराके द्वारा हम अपना और दूसरोंका जीवन-निर्माण करते हैं। भविष्यके प्रति रचनात्मक दृष्टिकोण रखनेसे ही हम उज्ज्वल भविष्यका निर्माण करनेमें समर्थ होते हैं। जो स्वप्न हम विश्वासपूर्वक देखते हैं, वे भौतिक रूप धारण करके हमारे सामने प्रत्यक्ष हो जाते हैं। विश्वास हमारे लिये सफलताके द्वार खोलता है। विश्वासके द्वारा ही हम भगवान्‌के साथ सीधा सम्बन्ध स्थापित करनेमें समर्थ होते हैं। जैसा हमारा विश्वास होता है, वैसी ही सफलता हमें प्राप्त होती है। परंतु समस्या तो यह है कि विश्वास कैसे उत्पन्न हो। समस्त सिद्धियोंका साधन विश्वास है, परंतु विश्वासका साधन क्या है ?

हमारा विश्वास हमारे मनकी एक अवस्था है। मनकी एक अवस्था होनेके कारण यह चाहे जब उत्पन्न किया जा सकता है। अपने मनको हम जैसी आज्ञा देते हैं, वैसा ही विश्वास वह करने लगता है। जैसे विचार हम प्रायः करते रहते हैं, वैसा ही हमारा विश्वास बन जाता है। हमारे मनमें आनेवाला प्रत्येक विचार अपनी छाप छोड़ जाता है। अतः हमें अपने मनको रचनात्मक विचारोंमें लगाना चाहिये। जब हम एक लक्ष्य निश्चित कर लेते हैं और उसको प्राप्त करनेके लिये योजना बनाकर कार्य करने लगते हैं, तब हमारा विश्वास बढ़ने लगता है। प्रयत्न करनेसे हमारा विश्वास दृढ़ होता है और विश्वास दृढ़ होनेसे सफलता प्राप्त होती है।

प्रयत्न करनेका सबसे बड़ा लाभ यही है कि इससे हमारे मनमें निरन्तर सफलताके विचार आते रहते हैं, जिससे हमें सफलता प्राप्त करनेका पूर्ण विश्वास हो जाता है। हमें सदैव सफलता, समृद्धि और विजयके ही विचार करने चाहिये। अपनी समस्त रचनात्मक शक्तियोंको जाग्रत्, एकाग्र और क्रियाशील करके अपने निश्चित लक्ष्यकी ओर बढ़नेसे हमारे मनमें सफलता और विजयके ही विचार आते हैं। जैसे विचार हम बार-बार मनमें लाते हैं, वैसी ही शक्तियाँ इस अनन्त ब्रह्माण्डसे हमारी ओर आकर्षित होती हैं और हमारे स्थिर विचारको स्थूल रूप प्रदान करती हैं।

किसी एक ही विचारको बार-बार दोहरानेसे वह विचार दिन-पर-दिन शक्तिशाली होता जाता है। उसी विचारको जब अनेक व्यक्ति मिलकर दोहराते हैं, तब वह और भी शीघ्र मूर्तरूप धारण कर लेता है। जो राष्ट्र मिलकर सहयोगपूर्वक राष्ट्रनिर्माणकी योजनाओंको उठाते हैं, वे शीघ्र उन्नतिके शिखर-पर पहुँच जाते हैं। लेखक और वक्ता जिस प्रकारके विचारों-का प्रचार जनतामें करते हैं, वैसे ही भविष्यकी ओर वे संसार-को ले जाते हैं। आज संसारके ऊपर जो अणु-युद्धकी विभीषिका छायी हुई है, उससे त्राणका उपाय यही है कि आजके नेता और पत्रकार युद्धकी शब्दावलीको त्यागकर शान्ति और सहयोगकी शब्दावलीमें विचार करना और लिखना-बोलना प्रारम्भ करें। पारस्परिक सहयोगके नारोंका प्रचार करके ही हम विश्वको भावी स्वर्ण-युगकी ओर ले जा सकते हैं।

ईश्वरकी अनन्त शक्तिमें पूर्ण विश्वास रखते हुए हमें विश्व-शान्तिके लिये संकल्प और उद्योग करना चाहिये। करुणामय प्रभुसे हमें प्रार्थना करनी चाहिये कि मनुष्य-जातिमें भगवद्भक्तिका प्रसार हो और सबको सुख, समृद्धि और शान्ति प्राप्त हो। जैसी हम प्रार्थना करें, वैसी ही कल्पनाएँ भी करनी चाहिये। कल्पना हमारी आत्माकी निर्माणशाला है। कल्पनाद्वारा निर्मित मूर्तिमें जब विश्वास जीवन डाल देता है, तब हमें सफलता प्राप्त हो जाती है।

अपने और दूसरोंके प्रति रचनात्मक दृष्टिकोणका यही अर्थ है कि हम उज्ज्वल भविष्यके चित्र अपनी कल्पना-दृष्टिके सामने रखें। दूसरोंके प्रति शुभ कामनाका वास्तविक रूप यही है कि हम उनके उज्ज्वल भविष्यमें विश्वास करें। जिसके सुखमय भविष्यमें हमारा विश्वास ही नहीं है, उसके प्रति हमारी शुभ कामनाका कोई मूल्य नहीं है। विश्वासके बिना शुभ कामना या प्रार्थनाके शब्द थोथे होते हैं। कोई संत जब किसी दुष्टके उद्धारके लिये प्रार्थना करते हैं, तब उनकी प्रार्थनां इसीलिये सफल होती है कि वे उसको दुष्टके रूपमें नहीं, बल्कि एक सज्जनके ही रूपमें देखते हैं। वे उसकी अच्छाइयोंको ही देखते हैं, जिससे वे अच्छाइयाँ बढ़ती [illegible]

रचनात्मक दृष्टिकोणवाला मनुष्य जब किसीके अंदर कोई दुर्गुण देख लेता है, तब यही विचार करता है कि इसके अंदर सद्गुण कैसे जागेंगे। इसी प्रकार जब वह किसीको कष्टमें पड़े हुए पाता है, तब विचार करता है कि इसको सुखमय जीवनका स्वर्णिम प्रभात कब दिखायी देगा। जब वह देखता है कि कोई व्यक्ति अपने उद्योगमें असफल हो गया है, तब उस असफलताको वह अस्थायी असफलता मानता है और उसके कारणोंका विश्लेषण करके उस असफल व्यक्तिको पुनः उद्योगकी ओर उत्साहित करता है। रचनात्मक दृष्टिकोणवाला व्यक्ति किसी असफलताको अन्तिम असफलता नहीं मानता, बल्कि प्रत्येक असफलतासे शिक्षा ग्रहण करके उसको अन्तिम सफलताकी सीढ़ी बना लेता है। बिगड़ी हुईको बनाने तथा बनी हुईको और सुन्दर बनानेकी ओर ही उसकी दृष्टि रहती है। वह जिधरसे भी निकल जाता है, उधर ही अपने रचनात्मक दृष्टिकोणसे अमृत-वर्षा करता जाता है।

इस संसारमें हम जिस व्यक्तिके प्रति जैसा दृष्टिकोण रखते हैं, वह हमारे लिये वैसा ही सिद्ध होता है। जिसको भी हम अपना मित्र समझते हैं, वह हमारा मित्र सिद्ध होता है। रचनात्मक दृष्टिकोणवाला व्यक्ति सबको मैत्रीपूर्ण दृष्टिसे देखता है और सबको अपना मित्र बना लेता है। यही बात अन्य वस्तुओं और घटनाओंके विषयमें भी सत्य है। मैत्रीपूर्ण दृष्टिकोण रखनेसे समस्त वस्तुएँ और घटनाएँ हमारे लिये मङ्गलमय सिद्ध होती हैं।

इतना ही नहीं, जिस वस्तुका हम जिस रूपमें कुछ समयतक एकाग्रचित्तसे ध्यान करते रहते हैं, एक निश्चित अवधिके बाद वह वस्तु वैसी ही बन जाती है। इस विषयमें वेदका वचन है—

स मनसा ध्यायेद् यद् वा अहं किंचन मनसा।
ध्यास्यामि, तथैव तद् भविष्यति तद्ध स्म तथैव भवति॥
(गोपथ ब्राह्मण पू० १। १)

अर्थात् पुरुष मनमें संकल्प करे—मैं जिस वस्तुका मनसे जिस रूपमें ध्यान करूँगा, वह वैसी ही बन जायगी। वस्तुतः वह वस्तु वैसी ही बन जाती है।

भगवान् मङ्गलमय हैं और उनका विधान मङ्गलमय है। यह समस्त सृष्टि उनकी रचना है, अतः इसकी प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक घटना सदैव सबके लिये मङ्गलमय है। सबका अभ्युदय और कल्याण अवश्य होगा। सुखमय जीवनके द्वार सबके लिये सदैव खुले हुए हैं। उस ओरसे हमने ही स्वयं अपने द्वार अभीतक बंद कर रखे थे। आइये, अपने विश्वासके द्वारको खोलकर हम भगवान्के राज्यमें प्रवेश करें।

हे मन! तू रचनात्मक विचारधाराको अपना ले और भगवान्की अपार करुणामें विश्वास कर। सबके अभ्युदय और कल्याणके लिये प्रार्थना कर तथा सबके उज्ज्वल भविष्यके स्वप्न देख। सब जीव भगवान्के प्यारे हैं और सबके योग-क्षेमकी व्यवस्था भगवान्ने कर रखी है। सबको अपने कर्तव्य-पालनकी योग्यता भगवान्ने दी है और वे सबका पथ-प्रदर्शन कर रहे हैं। आरोग्य और सौभाग्यका स्रोत हमें प्राप्त हो गया है। भगवान् ही सुख और समृद्धिके अनन्त भण्डार हैं। उनके साथ सीधा सम्बन्ध स्थापित करके हम अब पूर्णतया प्रसन्न और आनन्दमग्न हैं। हम पूर्णतया स्वस्थ और प्रसन्न हैं।

पीतपट मैं लिपटिगौ

मंजुल मुकुट केर निकट घरीक रह्यौ,
उत तें उचटि लौनी लटनि मैं लटिगौ।
कहै 'बलभद्र' लौनी लट तें उलटि फेरि,
ग्रीवा कल कंठ की निकाई मैं सिमटिगौ॥
भूल्यौ भूल्यौ फिर्‌यौ फेरि भाई सी भुजानि बीच,
अंगुरीन नाभी तें अचाक आइ डटिगौ।
कब कौ भुलायौ मन अटक्यौ निपट आली,
कटि के निकट पीतपट मैं लिपटिगौ॥

अध्यात्मशास्त्रका राजमार्ग

(लेखक—सेठ मोतीलाल माणेकचन्द, उर्फ श्रीप्रताप सेठ)

'मैं हूँ या नहीं' इस सम्बन्धमें तो बुद्धिका कोई प्रश्न ही नहीं है; क्योंकि इस 'मैं' के अस्तित्वके सम्बन्धमें बुद्धिका यह दृढ़ निश्चय कि 'अभी तो मैं हूँ ही' ज्ञानसे यानी कार्य-कारणसे नहीं हुआ। यह पुराणपुरुषोत्तम-स्वरूपका निश्चय बुद्धिके जन्मसे ही है। इसके विपरीत हमें 'मैं नहीं हूँ' ऐसा अनुभव कभी शक्य नहीं है; क्योंकि ऐसा अनुभव तो तभी हो सकता है, जब 'मैं हूँ' यह अनुभव न रहे परंतु 'मैं हूँ' यह अनुभव तो मृत्युमें भी नहीं छूटता। इसीलिये तो मृत्यु कोई चीज नहीं है; क्योंकि 'मैं' यानी आत्मा मृत्युके तथा जगत्के भी पहले पुराणपुरुषोत्तम-स्वरूपका अनुभव है। इसलिये 'मैं हूँ', इसके विपरीत 'मैं नहीं हूँ' ऐसा अनुभव हमें कदापि नहीं हो सकता। परंतु बुद्धि जब उस 'मैं' को विषयदृष्टिसे देखती है, तब वह 'मैं' नित्य अविनाशी है अथवा मरणशील है—ऐसा प्रश्न बुद्धिमें उत्पन्न होता है। जबतक 'मैं' बुद्धिकी कक्षामें है, तबतक यह कैसे माना जाय कि कल 'मैं मर नहीं जाऊँगा।' इस प्रश्नका मिट जाना सम्भव नहीं। कदाचित् यह प्रश्न मिटेगा भी तो वहाँ कर्ता-कर्म-विरोध आये बिना नहीं रहेगा। यानी 'मैं' को जाननेमें जाननेवाला भी 'मैं' ही और जाननेकी वस्तु भी 'मैं' ही—ऐसा कर्ता-कर्म-विरोध आता है और यह विरोध अनुभवकी दृष्टिसे ग्राह्य नहीं है।

'मैं' को बौद्धिक ज्ञानसे जाननेमें दूसरी अड़चन यह आती है कि वस्तुका ज्ञान होनेमें, वस्तुको कैसा विपर्यस्त स्वरूप प्राप्त होता है, यह जान लेना अध्यात्मशास्त्रका एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। परंतु वस्तुके पूर्व स्वरूपको और वस्तुज्ञानके पश्चात्के उसके स्वरूपको हम जान नहीं सकेंगे; क्योंकि वस्तुके मूलस्वरूपको जाननेकी कोशिश हम ज्ञानसे ही करेंगे, परंतु ज्ञानमें आते ही वह वस्तु विपर्यस्त हो जाती है। इसलिये वस्तुके मूलस्वरूपको जाननेके लिये हमें अनुभवका ही सहारा लेना पड़ेगा।

वस्तुका मूल-स्वरूप ज्ञानमें आते समय कैसे विपर्यस्त हो जाता है, यह बात जहाँ ज्ञान नहीं रहता परंतु अनुभव मात्र रहता है, वहीं जान सकते हैं। वे स्थितियाँ केवल दो ही हैं—

एक तो सुषुप्तिमें ज्ञान नहीं रहता, परंतु [illegible] रहता है; क्योंकि सुषुप्तिसे उठनेके बाद हम 'सुखसे सोये थे' इस सुषुप्तिके अनुभवको हम बतलाते हैं। इसमें सापेक्षता नहीं है, केवल अनुभवमात्र है। और इससे सुषुप्तिमें केवल अनुभव मात्र ही था, ज्ञान नहीं था—यह सिद्ध होता है। सुषुप्तिमें 'मैं' कुछ भी नहीं जानता था, वहाँ अन्धकारमय स्थिति थी, आदि-आदि बातें हम जागनेके बाद जाग्रतिकी अपेक्षासे ही कहते हैं और इन सब सापेक्ष बातोंसे ही सुषुप्ति-स्वरूप बनता है। इससे आप समझ सकेंगे कि सुषुप्तिका मूलमें कोई स्वरूप ही नहीं था और न कोई अर्थ ही था। वह तो केवल आत्म-स्थितिमात्र थी। परंतु जाग्रत् होनेके बाद जब सुषुप्ति ज्ञानमें आयी, तभी वह विपर्यस्त हो गयी यानी ज्ञानमें आनेपर उसको सुषुप्तिका रूप और सुषुप्तिका अर्थ मिल गया।

वस्तु या क्रिया ज्ञानमें आते समय ही विपर्यस्त हो जाती है, इसके सम्बन्धमें दूसरा प्रमाण यह है—

व्यवहारमें हमारी हजारों क्रियाएँ होती हैं, परंतु क्रियाके होते समय हमको उन क्रिआओंका ज्ञान नहीं रहता। यानी हमने अमुक क्रिया की—ऐसा ज्ञान क्रिया करते समय नहीं रहता। हमने अमुक क्रिया की, ऐसा ज्ञान क्रियाके बाद ही होता है और वह उचित ही है; क्योंकि जिस वस्तु या क्रियाका ज्ञान होता है, वह वस्तु या क्रिया ज्ञान होनेसे पहले ही होनी चाहिये, इस बातको तो सभी जानते हैं। परंतु ज्ञानमें आते समय वह विपर्यस्त हो जाती है, यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिये। क्रिया होते समय न तो उसका रूप रहता है और न कोई अर्थ ही रहता है। रूप और अर्थ ज्ञानमें ही आते हैं और बादमें हम कहते हैं कि हमने अमुक क्रिया की।

अध्यात्मका अभ्यास करनेवालोंसे सविनय निवेदन है कि (१) आत्माका लक्षण और (२) वस्तु या क्रियाका ज्ञानमें आते ही विपर्यास हो जाना ये—दोनों बातें उन्हें अच्छी तरह समझ लेनी चाहिये। यानी हमारे ज्ञानमें शुद्ध वस्तु तो कभी आती ही नहीं। जो आती है, वह विपर्यस्त होकर ही आती है।

उपर्युक्त दोनों बातें अध्यात्मके साधकोंको खूब अच्छी तरह ध्यानमें [illegible] और सदा इसका विचार [illegible] साधनामें [illegible]

प्रगति होगी । अध्यात्म-साधनमें ये दोनों बातें बहुत ही उपयोगी हैं । 'आत्माके वैलक्षण्य' इस पहली बातकी अपेक्षा 'ज्ञानमें आनेवाली सभी बातें विपर्यस्त होकर ही आती हैं'—यह दूसरी बात अधिक विचार करने योग्य है; क्योंकि ज्ञानमें आनेवाली वस्तु या क्रियामात्रविपर्यस्त होकर आती हैं; परंतु वे विपर्यस्त होकर आती हैं, यह बात हमारे ध्यानमें आती ही नहीं । और यह सम्पूर्ण जगत् इसी विपरीतताका ही परिणाम है । इसलिये अध्यात्मके साधकोंको इन दोनों बातोंपर खूब विचार करना चाहिये ।

हमें जो जगत् दिखायी देता है, वह सत्य है ही—यह आप समझते हैं । परंतु वह जगत् सत्य न होकर विपर्यस्त स्थितिमें यानी 'मैं' से पृथक् स्वरूपमें ही आपके सामने खड़ा है । वस्तुतः वह जगत् न होकर 'मैं' ही है; परंतु ज्ञानमें आते समय वह विपर्यस्त होकर 'मैं' से पृथक् विषयरूप दिखायी देता है और वही 'मैं' आपको जगत्‌के स्वरूपमें दीखता है । अतएव आपको जगत्‌के स्थानपर 'ब्रह्म' यानी 'मैं' ही दीखना चाहिये और वह सहज स्थितिकी दृष्टिसे ही दीखेगा । हम सदा सहज स्थितिमें ही रहते हैं, परंतु वहाँ जगत्‌का पता भी नहीं रहता । क्रिया होते समय यानी केवल इन्द्रियोंके देखते समय तो यह जगत् ब्रह्मस्वरूप ही रहता है । परंतु ज्ञानमें आनेके बाद 'जगत्' रूपमें भासने लगता है ।

उपर्युक्त सुषुप्तिके और क्रियाके उदाहरणसे आप अच्छी तरह समझ सकेंगे कि वस्तुको ज्ञानमें जब रूप और अर्थ प्राप्त होते हैं, उसके पूर्व वह वस्तु और क्रिया ब्रह्मस्वरूप ही रहती है, इसलिये 'मैं' को केवल बौद्धिक ज्ञानसे न जानकर उस 'मैं' को 'मैं' की विलक्षणतासे पूर्ण ज्ञानके द्वारा ही जानना चाहिये । इसीसे 'यह कैसे माना जाय कि 'कल मैं मर नहीं जाऊँगा ।' इस प्रश्नका समाधान हो जायगा । 'मैं' का वैलक्षण्यपूर्ण ज्ञान यानी 'मैं' का कभी भी ज्ञानमें आना सम्भव नहीं, 'मैं' के सम्बन्धमें ऐसा ज्ञान होनेके बाद 'मैं' का कभी मरना सम्भव नहीं । 'मैं' के स्वरूपका यह ज्ञान हो जाता है । 'मैं कभी नहीं मरूँगा' इसके सम्बन्धमें आत्माके वैलक्षण्यको जान लेना यानी आत्माका ज्ञानमें आना सम्भव नहीं है, यह भलीभाँति समझ लेना ही आत्माका सच्चा ज्ञान प्राप्त करनेका राजमार्ग है ।

'मैं' का ज्ञानमें आना कभी भी सम्भव नहीं है; क्योंकि आत्मा ज्ञानस्वरूप है, अतः ज्ञान ही ज्ञाबातु [illegible] जानेगा । इस प्रकार आत्माके वै[illegible] [illegible] कर रहे हैं । [illegible] देना उचित है; क्योंकि आत्मस्वरूपका यही यथार्थ ज्ञान है । इसी ज्ञानको वेदोंमें 'नेति-नेति' कहा है; क्योंकि आत्मा यदि ज्ञानमें आता है तो वहाँ कर्ता-कर्म-विरोध हो जाता है और ज्ञानमें जो-जो बातें आती हैं, वे सभी विपर्यस्त होकर ही आती हैं—यह ऊपर अच्छी तरह सिद्ध कर दिया गया है । ज्ञानमें कभी भी न आना ही आत्माका स्वरूप है । इस आत्मस्वरूपमें न तो कर्ता-कर्मका विरोध है, आत्मा विपर्यस्त ही होता है । अतएव 'आत्मा' कभी ज्ञानमें आता ही नहीं यह ज्ञान ही यथार्थमें 'ज्ञान' संज्ञाका पात्र है ।

> मीऊ जाणू जाता तो मी न राही तत्वता ॥
> नसे मीऊ जाणण्याची अवश्यकता । मीच म्हणूनी ॥
>
> (ज्ञानेश्वर)

और भी एक जगह कहा है—

> मीचे ज्ञान बुद्धि सी । होणे असंभव असे तिशी ॥
> हे दावी वैरुध्यण्याचे लक्षणाशी आणि त्रिपया मध्ये ॥

'मैं' का यदि बुद्धिमें आना सम्भव ही नहीं तो 'मैं' का मरना भी सम्भव नहीं; क्योंकि जो बात बुद्धिमें आ ही नहीं सकती, उसके लिये बुद्धि यह कैसे कह सकती है कि 'वह मरनेवाला है' । इसलिये 'मैं' जन्म-मरणके परे है, यह बात उसके वैलक्षण्यसे सिद्ध होती है । एक महाराष्ट्र कविने वैलक्षण्यकी दृष्टिके सम्बन्धमें कहा है—

> सी दृष्टिकी जिस जड़ी अजडत्व थोरे ।
> नासाग्रदृष्टि कितो काय तिमी कथारे ॥

यहाँपर ऐसी शङ्का होना सम्भव है—''यदि आत्माका कभी भी ज्ञानमें आना सम्भव नहीं है—यह मानते हैं, तो फिर शास्त्रोंमें जो ऐसा कहा है कि 'ज्ञानान्मोक्षः', 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' यानी ज्ञानके विना मोक्ष—कैवल्य नहीं मिलता, इसका क्या समाधान है ? क्योंकि आत्माका ज्ञानमें आना सम्भव नहीं और ज्ञानके विना मोक्ष नहीं; तब फिर हम तो ऐसे-के-ऐसे ही अज्ञानी, दुखी, कष्टपूर्वक मरनेवाले ही रह जायँगे ।' इस प्रश्नका उत्तर यह है कि आत्मा कभी ज्ञानमें नहीं आ सकता, यही 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्', 'ज्ञानान्मोक्षः' में वर्णित ज्ञान है । आत्माको पूरा जाने विना वह ज्ञानमें आता नहीं, यह कैसे कहा जा सकता है । 'यह मनुष्य गोविन्द नहीं'—यों कहना तभी सम्भव है, जब गोविन्दका सच्चा ज्ञान हो । गोविन्दके ज्ञान विना ऐसा कहना बनता ही नहीं । इसी प्रकार 'आत्माका ज्ञानमें आना सम्भव [illegible]' [illegible] अर्थ यही है कि आत्मा विलक्षण पदार्थ है,

इसलिये वह ज्ञानमें आने योग्य नहीं है। अतः यों कहनेमें आत्माका पूरा ज्ञान सिद्ध है और इस ज्ञानमें न कोई कर्ता है और न कर्म है। अतः यहाँ कर्ता-कर्म-विरोध भी नहीं आता। कर्ता-कर्म-विरोध तो 'आत्मा ज्ञानमें आता है' यों माननेसे होता है। परंतु आत्मा विलक्षण पदार्थ होनेके कारण ज्ञानमें आ ही नहीं सकता। इसलिये वहाँ कर्ता-कर्म-विरोध हो ही नहीं सकता और आत्माके ज्ञानमें न आनेसे वह विपरीत भी नहीं होता। 'आत्मा ज्ञानमें आनेवाला नहीं है' यों कहनेमें जो एक आत्मस्वरूपका ज्ञान है, वही दीखता है; क्योंकि 'आत्मा ज्ञानमें आनेवाला नहीं है' यह ज्ञान ही बतलाता है कि वह आत्मज्ञान इतर पदार्थोंके ज्ञानके सदृश विधेयात्मक न होकर निषेधस्वरूप है अर्थात् जो-जो पदार्थ तुम्हारे ज्ञानमें आते हैं, वे सब आत्मा नहीं हैं—इस प्रकार यह निषेधात्मक ज्ञान है। अब यह बात अच्छी तरह समझमें आ गयी होगी कि कर्ता-कर्मका विरोध न हो और ज्ञान विपर्यस्त न हो, ऐसा आत्माका सच्चा ज्ञान करा देनेके लिये ही वेदोंमें 'नेति-नेति' वाक्यसे आत्माका ज्ञान करवाया गया है। यही अध्यात्म-शास्त्रका राजमार्ग है।

सर्वात्मभावकी साधना

(लेखक—श्रीजयेन्द्रराय भ० दूरकाल, एम्० ए०, डी० ओ० सी०, विद्यावारिधि)

इधर कुछ ही वर्षोंमें दो-दो महायुद्ध हो जानेके कारण इनके साथ किसी-न-किसी प्रकारसे सम्पर्कमें आनेवाले लोगोंको किसी-न-किसी कारणसे बड़ा ही श्मशान-वैराग्य उत्पन्न हो गया है। कुछ तो परमेश्वरको भी खोजने लगे हैं; कहा भी है—'दुखमें सुमिरै सब कोई राम।' और कुछ लोग सत्य और अहिंसापर, तथा कोई वश न चलनेपर उपवासपर ही उतारू हो गये हैं। और कुछ लोग 'बातोंसे ही गढ़ जीत लेंगे'—यों मानकर भेंट-मुलाकात तथा बातचीतके चक्करमें पड़े हैं और मनको दिलासा देते हैं कि 'बातचीत तो चिरकालकी शान्तिके लिये करनी चाहिये।' कुछ नहीं तो, इसमें समय तो निकल ही जाता है। बात तो चन्द्रमा और मङ्गल ग्रहतक पहुँचनेकी होनी चाहिये। फिर जहाँतक पहुँचें, वहींतक ठीक। निस्संदेह भावनाएँ ऊँची ही होनी चाहिये और उत्साह भी खूब रखना चाहिये। अतएव एक देश 'पञ्चशील' का उपाय बतलाता है, तो दूसरा न्याय-युक्त शान्तिका उपाय बतलाता है; तीसरा खाने-पीने और आरामका ठेका लेनेवाली परोपकारी राज्यसत्ताका उपाय बतलाता है; चौथा राज्यमात्र-को विघटन करने (Dissolve) का उपाय बतलाता है और पाँचवाँ इन सबके स्थानमें शान्तिके लिये एकाधिकारपूर्ण चरम प्रभु-सत्ताका उपाय बतलाता है। इसमें कुछ भी आश्चर्यकी बात नहीं है। कुछ नहीं तो, इतना तो कहा ही जा सकता है कि 'भाई! हमने शान्तिका अमोघ उपाय बतलाया परंतु लोगोंने माना नहीं, दुनिया उसके अनुसार चली नहीं; फिर हम क्या करें?' और सबके मनमें ऐसा लगता है कि यदि मेरी दवा की जाय तो कल [illegible] उतर जाय। ऐसी भगवान्‌की माया है। कहावत भी है कि 'पैसेसे कोई पूरा नहीं और अक्लसे कोई अधूरा नहीं'। और यदि इन सब डाक्टरोंको आलोचनाके लिये बुलाइये तो आपकी कोई न सुने। अन्यथा जैसे डाक्टर, वैद्य और हकीम, जलोपचारवाले, सूर्योपचारवाले, प्रकृति-चिकित्सक आदि परोक्षमें एक दूसरेकी टीका-टिप्पणी करते रहते हैं, उसी प्रकार इन लोगोंकी भी टीका-टिप्पणी, निन्दा-स्तुति और छिद्रान्वेषण चलता ही रहता है। इससे खूब पढ़ने-लिखने-वाले विद्वानोंके समान सीधे-सादे और अपढ़ लोग भी चक्करमें पड़ जायँ तो इनमेंसे किसको सच और ठीक मानें? और फिर ऐसा भी होता है कि प्रत्येक पक्षमें कुछ-न-कुछ थोड़ा-बहुत गुण भी होता है—इससे चीज वैसे ही चलती रहती है।

फिर कुछ लोग अपने पास सब कुछ जानने और समझने तथा तौलनेका समय न होनेके कारण पंचायतकी तरह 'भाई तुम्हारी बात ठीक है, और तुम्हारी भी ठीक है, और तुम्हारी बात भी गलत नहीं है'—इस प्रकार सबको सही बतलाकर अपनी समाधान करनेकी योग्यता स्थापित करते हैं। और कुछ लोगोंको मोलियरके नाटकके बनावटी डाक्टरके समान कोई माने या न माने, बलात् डाक्टर बनकर बैठना पड़ता है। मैं भी अपनेको इस बड़े जत्थेसे अलग नहीं करता; यदि करूँ भी तो कौन मानेगा—यद्यपि एक जगह मैंने लिखा तो है कि हमलोगोंकी शान्तिकी खोजके मार्गमें मुख्य कठिनाई इस कारणसे उत्पन्न होती है कि सारे संसारको चलानेवाले परमेश्वर—सबके कर्ता, हर्ता और भर्ताको तथा उसके बतलाये [illegible] सीधे सुख-

शान्ति और समृद्धिकी खोजमें निकल पड़ते हैं, और यह भूल करके सत्यके अन्वेषणके मार्गमें रास्तेमें ही लड़खड़ाकर गिर पड़ते हैं। इस प्रकार विसुक गयी गायको रखनेका फल अर्थात् केवल श्रममात्र हमारे हाथ लगता है। हमारे इस प्रयासका ऐसा ही फल होता है—

आशा ले उमरेठा गया, एक चवन्नी लाया।
दूध-सी उजली धोती खोयी, आठ कोस भटकाया॥

एक ब्राह्मणको उमरेठासे भोजन करनेके लिये चौरासीमें निमन्त्रण मिला। चार आने दक्षिणा और भोजन तो मिला; क्योंकि यही वहाँ रिवाज है; परंतु नफेमें बेचारेने दूध-सी उजली धोती खो दी और आठ कोस भटकना पड़ा सो अलग। कुछ लोगोंको पुरानी लीक, राजमार्गको छोड़कर इधर-उधर जानेका शौक लग जाता है, उनको भी पगडंडी छोड़नेपर भटकना ही पड़ता है। किसी विरलेको भले ही मनचाही वस्तु मिले, नहीं तो प्रायः दूसरोंकी झोंपड़ीमें आश्रय लेना पड़ता है, या जीवन ही बदल जाता है, अथवा बाघ-भालूके मुँहमें जाना पड़ता है, या डाकू-लुटेरोंके हाथमें पड़कर उनका गुलाम बनना पड़ता है। इसीलिये लोग लीक-लीक चलते हैं, अथवा अपनी गाड़ीको लीक-लीक चलाते हैं। संसारको सागर कहें, या वन-जंगल, इसमें बिना किसी मार्गदर्शकके जानेमें नयी-नयी कठिनाई, नयी-नयी जोखिम रहती है। आज भी हममेंसे बहुत-से लोग भयके सामने आनेपर खरगोशकी तरह आँखें मूँदकर बैठ जाते हैं; परंतु बड़े-बड़े लोग तो देख ही रहे हैं और प्रत्यक्ष कह रहे हैं कि संसार आज एक महान् भयके किनारे पहुँच गया है, जो जगत्के इतिहासमें अतुलनीय है।

इस संसारके ऊपर मँडराते हुए महान् विनाशक संग्राममें दो चीजोंकी वृद्धि हुई है—विषैले शस्त्र और विषैला मन। अणु-बम, हाइड्रोजन-बम, जहरीले कीटाणु फैलानेवाले बम, विषैली वायु फैलानेवाले बम—ये सारे विषैले शस्त्र एक ओर बढ़ गये हैं तो दूसरी ओर कामना, क्रोध, अधिकारके लोभ और धन लोलुपताके कारण एक दूसरेके पतन तथा विनाशकी भावनासे भरा हुआ मन है। प्राचीन कालमें जब लोगोंके मनमें काम, क्रोध और लोभकी कमी थी, तब उनकी गाड़ी लीक-लीक चलती रही तथा बहुत ईर्ष्या-द्वेष या वैर-हिंसा भी नहीं थे। कोई सिकंदर या नादिरशाह या महमूद आता था तो राजाको पराजित करता था या लोगोंको लूटता था या मूर्त्तियों [illegible] कर रहे थे। [illegible] था। तुम अपने घर और मैं अपने घर। परंतु अब तो युद्ध बंद होनेके बाद अथवा बंद करनेके बाद दसों वर्ष सुलह-शान्तिकी शर्तोंमें ही चले जाते हैं। कान्फ्रेंस, परिषद् और समितियोंका ताँता लगा ही रहता है। दोनों पक्ष एक दूसरेको उल्लू बनानेकी चेष्टामें रहते हैं। फिर दोनों ही समझ लेते हैं कि चलो, समय तो कटा! जैसे प्रेमीलोग समझते हैं कि 'हजारों रात बातोंमें गँवाना ही कमाई है', उसी प्रकार इनके लिये भी जितने ही दिन युद्ध टल गया, उतना ही अच्छा! कोई एक शील उपस्थित करता है तो कोई दो-तीन शील तो कोई पञ्चशीलका सुझाव रखता है। परंतु कोई भी स्वयं संयमका मार्ग नहीं पकड़ता। दूसरोंको संयममें रखनेके लिये सभी तैयार रहते हैं। कोई अधिकारी रैयतको लूटता है तो कोई अपने संस्थानोंको चूसता है और कोई जलकी भाँति लोगोंके रक्तको भी नहीं छोड़ता। इस प्रकार कोई शान्ति-सुव्यवस्थाके बहाने, कोई समृद्धिकी नदी बहानेके बहाने, कोई दूसरोंको खान-पान और धन-धामकी पूरी सुविधा कर देनेके बहाने, अपने लोगोंको या दूसरे लोगोंको कर, व्यापार या दूसरी युक्तियोंसे अपना शिकार बनाते ही रहते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि नैतिक या धार्मिक मार्गपर चलनेसे ही अपना ठिकाना लगेगा; परंतु ऐसे लोग बहुत कम हैं। ऐसा कहनेवाले भी लोग थोड़े ही हैं और फिर उसको काममें लानेवाले तो और भी थोड़े हैं। विचार करनेपर जान पड़ता है कि आजकल संनिपातवाले त्रिदोषके लक्षण स्पष्ट दीख रहे हैं। पहले भी काम, क्रोध और लोभ थे, यह ठीक है; परंतु उनसे मनका दोष कुपित नहीं हुआ था। वात, पित्त और कफ—ये शरीरके मल हैं और राग-द्वेष तथा अभिनिवेश—ये मनके मल हैं। शरीरके मलके कुपित होनेपर रोग होता है और मनके मलके कुपित होनेपर मानसिक संतुलन बिगड़ जाता है। इसीलिये संसारके धन्वन्तरि कहते हैं—

संतोषस्त्रिषु कर्तव्यः स्वदारे भोजने धने।
त्रिषु चैव न कर्तव्योऽध्ययने जपदानयोः॥

स्त्री, खान-पान और धनमें संतोष रखना चाहिये; तथा विद्योपासना, जप और दान देनेमें उदारता रखनी चाहिये। परंतु आज तो सभीमें दौड़-धूप, उछल-कूद करके माल लूट लेनेकी कुछ ऐसी अद्भुत अभिलाषा जाग उठी है कि रावणके, राजा नलके या पाण्डवोंके समयमें भी ऐसी विलक्षण [illegible] देखी [illegible] यह बात तनिक-सा विचार करनेपर समझमें

आ जाती है। रावण या वालीके भाइयोंने भी तो पहले-पहल संयमका ही उपाय दिखलाया था। मुझको तो ऐसा लगता है कि आजकल जितनी ही अधिक परिषदें—पार्लमेंट होती हैं, उतना ही अधिक लोगोंमें गहरा राग-द्वेष बढ़ता जा रहा है। इस बातको तो अलग ही रहने दीजिये कि आजके लोकतन्त्रका अर्थ ही है—पक्षापक्ष, विरोध और वैरकी बालूके ऊपर खड़ी की गयी इमारत। अतएव 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना' के कारण तथा उसमें अनेक दलबंदियाँ होनेके कारण कोई रास्ता नहीं बन रहा है। चीनके मन्त्री चाऊ एन लाई तथा रूसके विधाता स्टालिन तो स्पष्ट कह देते हैं कि हमारे यहाँके लोकतन्त्रमें तो अधिनायकत्व (डिक्टेटरशिप) ही है और सर्वथा ठीक है। परंतु इस बातको जाने दीजिये। तथ्य तो यह है कि मनुष्योंके मनका आयोजन ही बुरा हो गया है। इसी प्रकार राज्योंका आयोजन भी लीकसे उतर गया है और वैज्ञानिकोंकी बुद्धिका आयोजन भी गड़बड़ाध्यायके अध्ययनमें लग गया है। जितना परिश्रम वे लोग पदार्थोंके अन्वेषणके पीछे करते हैं, उतना यदि मानवके मानसके विषयमें करनेमें लगाते तो काम बन जाता! कहा भी है कि युद्धमें, बीमारीमें, श्मशानमें अथवा पुराणोंके बाँचनेमें जो मनोवृत्ति होती है, वह यदि स्थिर रह जाती तो संसारके दुःखोंके सभी झंझटोंसे लोग छूट जाते। परंतु मनरूपी हाथीको यह टेव पड़ गयी है कि नदीमें नहाकर बाहर निकलते ही वह सूँड़में धूल भर लेता है और उसे अपने शरीरपर डालने लगता है। इस प्रकार शरीरको भिगोकर पीछे उसपर सूखी धूल पोतनेमें उसे क्या मजा मिलता है, इसका पता तो उसीको होगा; अन्यथा 'अपनी-अपनी तानमें रहें सभी मस्तान' कैसे हुआ जाता।

हमारे भीतर फैले हुए राग-द्वेषकी मुख्य भूमिका यह है कि हम सबको एक दूसरेसे अलग समझते हैं। ईशोपनिषद्में जो कुछ कहा गया है, उसके अनुसार यदि हम यह समझते होते कि 'समस्त भूत-प्राणीमात्र आत्मामें ही हैं और सब भूतोंमें एक ही आत्मा व्यापकरूपसे स्थित है, तथा प्रकृतिके वैविध्य, द्वन्द्व और संग्रामोंको प्रकृतिके थैलेमें डालकर उसको ऊँचे लटका देना है, तो फिर किसीकी निन्दा-स्तुति, पक्षापक्षी तथा लड़ाई-झगड़ेकी कल्पना ही कैसे होती। सच्चा साम्य—एकत्व तो आत्मामें ही है; शेष प्रकृतिमें तो अच्छे-बुरे, छोटे-बड़े, गोरे-काले, मोटे-पतले, गरीब-अमीर, मेधावी-मूर्ख, पुण्य और पाप—सब प्रकार[illegible] वैविध्य है और रहेगा। एकको सम करोगे तो दूसरा उभड़ आयेगा। अर्थात् एक आत्मा सर्वत्र समान रूपमें है, उसको देखो और प्रकृतिके पीछे मत पड़ो। संसारमें जितना गहरे उतरोगे, उतना ही अधिक कीचड़में फँसोगे। लोग जानते हैं कि जिस राज्यपर विश्वास करेंगे, वही सिरपर सवार हो जायगा, अथवा अधिनायकतन्त्रका पूर्णाधिकार आ बैठेगा। स्टालिनके कारनामेकी अब निन्दा की जा रही है, परंतु काम विगड़ जानेपर बुद्धिमानी किस कामकी। युद्धमें, शान्तिमें या सत्याग्रहमें कट मरना, गोली, अश्रुगैस या बमका शिकार होना किसीको भी पसंद नहीं है। परंतु यह सब फल है—ईश्वरको भुलाकर जगत्में तल्लीन होनेका।

अब प्रश्न यह होता है कि इस सर्वात्मभावकी प्राप्तिका साधन क्या है। इसमें जादू, चमत्कार या 'एक-दो-तीन, साढ़े तीन'का हुनर लगानेका काम नहीं है। इसका उपाय प्राचीनकालसे हमारे पूर्वजोंने बता रखा है। भगवान् श्रीकृष्णने भी यही बतलाया है कि जबतक सर्वात्मदृष्टि नहीं हो जाती, तबतक सबको भगवान् समझकर प्रणाम करते रहना चाहिये। सारे जगत्में जहाँ-जहाँ विभूतिवाला, श्रीसम्पन्न या तेजस्वी प्राणी दीख पड़े, उसको प्रभुकी विभूति, प्रभाव या मूर्तस्वरूप समझे। यह सारा जगत् ही प्रभुरूप है, ऐसा अनुभव करे। अग्नि, सूर्य, चन्द्र, तारागण, जल, पृथ्वी, मनुष्य, गौ आदि प्राणी, तुलसी आदि वृक्ष—इन सबमें प्रभु व्याप्त हो रहे हैं, ऐसा अनुभव करे। इन सबोंमें जहाँ अन्तःकरण अधिक आकर्षित हो, वहीं प्रभुको, परमात्माको पूजे। इस प्रकार मूर्ति-पूजाके समान घड़ी-घंटा न बजानेपर भी सर्वात्मभावका उत्तमोत्तम साधन सर्वपूजा हो जाती है और एक प्रकारसे बन्धुकी, प्रियकी, प्रियाकी अथवा प्रियके सौन्दर्यकी, सत्ताकी या समृद्धिकी, विद्याकी, कलाकी या साहित्यकी उपासना करनेवाले भी आत्माके इस महाप्रतीककी ही उपासना कर रहे हैं। मूर्तके द्वारा ही हम अमूर्तकी पूजा करते हैं। कवि तो हमको कहते ही हैं—

'आस पास आकाशमें विश्वपतीका वास।'

परंतु इस विश्वपतिको केवल आकाशमें ही नहीं देखना है। जगत्में बाहर-भीतर, चारों ओर, दसों दिशाओंमें वह भरपूर है। हम उसके भीतर, बैठकर सारी इधर-उधरकी और सुख या दुःखकी, पुण्य या पापकी हार-मालाएँ गूँथा करते हैं। इनमेंसे बच निकलना कठिन है, इसलिये पहले [illegible] महा[illegible] [illegible] पश्चात्

इन सत्कर्मोंको भी ईश्वरार्पण, निष्कामभावसे करें—ये सब जाने हुए मार्ग हैं, साधन हैं। अन्यथा, बंदूक और बमगोले बनाने और फोड़ने अथवा बातोंमें ही बड़े बननेका यत्न करनेसे दुनियाकी दशा पलटनेवाली नहीं है। ये सारे मौलिक साधन हमारे भीतर थे और आज भी थोड़े-बहुत हैं; इसीसे यह भारतदेश अहिंसा, सत्य और शान्तिके मार्गमें एकाएक एक ही दशकके भीतर संसारमें अग्रणी हो गया है। और रेडियोमें भी परमात्माके भजन और राम-रामकी आवाज सुन पड़ती है। यह एक ही भारतदेश है, जहाँ सर्वात्मभावकी भावना सारे सांसारिक जीवनमें तथा जीवन-जगत्में व्याप्त हो रही है। हमलोग कहते हैं कि 'जननी जने तो भक्त जन'। युवतियाँ जगदम्बाके दीपके आस-पास गरबा गाती हुई नवरात्रमें आनन्द मनाती हैं; छोटी-छोटी बालिकाएँ शिव-पार्वतीका व्रत लेकर सर्वात्माको देखनेकी शिक्षा ग्रहण करती हैं। हम गायको, गङ्गाको, गो-रजको, नदीको, अग्निको तथा सूर्यको पूजते हैं। किसान अपने हल आदिकी, कुलाङ्गनाएँ अपने पतिकी, शिष्य अपने गुरुकी और आस्तिक विप्रकी पूजा करते हैं। यही अपनी संस्कृतिका यशोगान है, यही हमारी संस्कृतिकी पुण्यमयी, पावन करनेवाली धारा है। इसीमें सर्वतोमुखी कल्याण है। अपने लिये शान्ति है, दूसरे सबके लिये सुख है और परमात्माकी पूजा है। परंतु ये सब उसके रूप हैं, उसके अधिकारी हैं, उसके वकील हैं, प्रतिनिधि हैं, देव-देवीस्वरूप हैं। अच्छे-बुरे वे हैं; परमात्मा अच्छा-बुरा नहीं—वह तो निर्लेप है।

राम-श्यामकी झाँकी

(लेखक—ठा० श्रीसुदर्शनसिंहजी)

[भाग ३१, सं० ९, पृष्ठ १२०४ से आगे]

७८—विश्राम

'कनूँ, तू थक गया है। ला, तेरे पैर दबा दूँ।' भद्र धीरेसे श्यामके चरणोंके समीप बैठ गया।

'तू थक गया हो तो तेरे पैर मैं दबा दूँ।' कृष्ण इस समय अपनी मौजमें है। भद्र उसके पैर दबाने लगे तो कोई पत्ता लेकर वायु करने आ पहुँचेगा। यह सब इस समय उसे अभीष्ट नहीं। भद्रके पाससे अपने चरण उसने एक ओर खिसका लिये।

हरी-हरी कोमल दूर्वा है। कहीं-कहीं शङ्खपुष्पीके उज्ज्वल पुष्प हैं उसमें छोटे-छोटे। ऊपर मौलिश्रीकी घनी छाया है। दाऊ पालथी मारे बैठा है और बड़े भाईके समीप ही श्याम पेटके बल घासपर लेटा पड़ा है। दोनों चरणोंके लाल-लाल तलवे खिले कमल-से ऊर्ध्वमुख हैं और मोहन कभी-कभी चरणोंकी अँगुलियाँ नचा लेता है। दाहिनी कुहनी भूमिपर टेककर खड़े दाहिने हाथकी हथेलीपर चिबुक धरे, वक्षसे ऊपरका भाग पृथ्वीसे उठाये सामने नाचते मयूरको चुपचाप देख रहा है और मन्द-मन्द हँस रहा है।

'भद्र, गायें तो दूर चली गयीं। मैं जाऊँ क्या?' इस पूछनेका अर्थ बहुत स्पष्ट है। मोहन इस समय उठे, यह कौन चाहे [illegible] कर रहे हैं। [illegible] 'तू लेटा रह। मैं गायें घेर लाता हूँ।' भद्र उठा और उसने अपना लकुट उठाया। गायें दूर चली गयी हैं। सखा भी खेलनेमें लगे हैं। कन्हाई उछल-कूदकर थक गया है। अब इसे तनिक विश्राम कर लेना चाहिये।

'चल, मैं तेरे साथ चलता हूँ।' दाऊने भी भद्रके साथ गायोंको घेर लानेके लिये उठनेका उपक्रम किया।

'दादा, तू बैठ।' कन्हाईने पड़े-पड़े ही दोनों हाथ उठाकर दाऊके दोनों घुटने पकड़ लिये और धीरेसे अपना सिर उसकी गोदमें रख दिया।

पेटके बल घासपर लेटा है यह श्यामसुन्दर। दोनों चरण अब इसने उठा लिये हैं घुटनोंतक ऊपर और उन्हें पीठकी ओर मोड़कर हिलाता है, नचाता है। दाऊकी गोदमें सिर रखकर मजेसे कभी मयूरका नृत्य देखता है और कभी बड़े भाईके मुखकी ओर मुख घुमाकर देख लेता है। कुछ गुन-गुन करके मन-ही-मन गा रहा है।

'दादा, तू जायगा?' नटखट कहींका। गोदमें सिर रखकर, दोनों हाथोंसे दोनों घुटने पकड़कर तब पूछता है कि तू जायगा? अरे तू गोदमें सिर रखे लेटा रहे तो दाऊ [illegible] हिलना भी चाहेगा? छोटे भाईके सुन्दर

मुखकी ओर देखता दाऊ मन्द-मन्द हँस रहा है। उसे क्या आवश्यकता कि उत्तर दे।

७९—ऐश्वर्य

'दादा!' तोक दौड़ता हुआ आया, किंतु सम्बोधन करके फिर हिचक गया। दाऊके पास आकर धीरेसे कहा उसने—'दादा! आँधी आ रही है। तू उसे मना कर दे। कनूँ सो रहा है न।'

'कहीं आँधी भी कोई मनुष्य या गाय है कि मना करनेसे मानेगी।' गोपकुमारोंने कुछ कहा नहीं, पर प्रायः सबके अधरोंपर हास्य आ गया। यह तोक अभी बहुत छोटा जो है—समझता नहीं कुछ।

'तू मेरा नाम लेकर उसे मना कर आ। कह देना कि अभी आयी तो अच्छा नहीं होगा।' यह दाऊ घूँसा दिखा रहा है। बाप रे! इसके घूँसेसे आँधी तो क्या, आँधीका बाप भी मान जायगा। तोक मना करने दौड़ गया है, किसी बालकके मनमें अब कोई संदेह नहीं है तोककी सफलताके सम्बन्धमें। कोई नहीं देखता कि गायोंने चरना बंद करके कान खड़े कर लिये हैं। बंदर वृक्षोंपर जा चिमटे हैं और वन-पशु चौकन्ने हो रहे हैं। आकाशमें चढ़ती हुई धूसर धूलिकी घनघटाकी ओर कोई आँख उठाकर देखतातक नहीं।

'दादा!' तोक फिर प्रसन्नतासे उछलता आया। इतनी देरमें भला, वह कितनी दूर गया होगा। इस बार दाऊके कानके पास मुख ले जाकर अपनी समझसे वह बहुत धीरे-धीरे बोल रहा है; पर उसका स्वर ऐसा है कि सुन सब रहे हैं। वह कह रहा है—'आँधी तो मेरा ही घूँसा देखकर भाग गयी। मैंने तेरा नाम तो लिया ही नहीं। मैंने कहा—'हमारा कनूँ अभी सो रहा है। तू भाग जा, नहीं तो हूँ।' और अपनी छोटी-सी मुट्ठी बाँध ली उसने फिरसे।

'तू क्या किसीसे कम है!' दाऊने प्रोत्साहित किया तोकको। श्याम सो रहा है। सघन तमालके नीचे लाल-लाल आम्र-किसलयोंकी शय्यापर भद्रकी गोदमें सिर रखकर वह सो रहा है। सुबलकी गोदमें उसके चरण ऐसे पड़े हैं, जैसे दो खिले कमल। पटुका उसने एक ओर हटा दिया है। बड़ी-बड़ी पलकें बंद हैं। वक्ष और उदर मन्द-मन्द हिल रहे हैं। सो रहा है कन्हाई। मण्डलीभद्र कमलके पत्तेसे वायु कर रहा है उसे।

दाऊ पास बैठा है सटकर। वह अपने निद्रित अनुजके अधरोंपर जो स्मितकी रेखा है, उसे देख रहा है। कभी-कभी धीरेसे कन्हाईके भालपर आयी अलकको हटा देता है। यह अलक भी कम हठी नहीं है। यह बार-बार भालपर चली आती है।

तोक आज संरक्षक बन गया है। कन्हाईकी दूसरी मूर्ति तोक—वैसा ही पीताम्बर-परिधान, नीलसुन्दर, गोपकुमारोंमें सबसे छोटा तोक तनिक दूर चरणोंकी ओर अपना छोटा-सा घूँसा बाँधकर खड़ा हो गया है। उसकी भङ्गी, उसके नेत्र, उसकी चेष्टा कहती है—'कोई बोल नहीं सकता। कोई आ नहीं सकता। न आँधी, न आँधीका सङ्गी साथी। हमारा कनूँ अभी सो रहा है।'

८०—अन्वेषण

'कन्हाई कहाँ है?' सायंकाल हो रहा है, गायोंके लौटनेका समय हो गया। गोपकुमार उन्हें घेरने भी लगे हैं। ठीक इस समय श्याम कहाँ चला गया? अभी थोड़ी देर पहले तो यहीं उछल-कूद कर रहा था। पता नहीं किस पक्षी या मृगके पीछे दौड़ गया। किसी कुञ्जमें पुष्प लेने भी चला गया हो सकता है। अब उसे झटपट आ जाना चाहिये। दाऊ इधर-उधर देखने लगा है।

'श्याम कहाँ गया? किधर गया?' अपने छोटे भाईके आँखोंसे ओझल होते ही यह दाऊ चञ्चल होने लगता है। वैसे यह सबमें गम्भीर है; किंतु कृष्ण कहीं गया तनिक दूर और इसने खोज प्रारम्भ की। फिर इससे बैठा नहीं रहा जा सकता।

'कनूँ! कहाँ है तू? आ। दौड़ आ। अब हम घर चलेंगे।' कृष्ण तो कहींसे बोलता नहीं। दाऊके गम्भीर स्वरकी केवल प्रतिध्वनि आ रही है। 'कितनी दूर चला गया श्याम?'

'तुमने मोहनको देखा है? वह किधर गया?' सब सखा तो यहीं हैं। अकेला कन्हाई चला कहाँ गया? ये सुबल, भद्र, श्रीदाम, तोक, अर्जुन, ऋषभ आदि सबके सब तो यहीं हैं। इन सबसे पृथक् होकर वह चला गया?

'तुम सब बताते क्यों नहीं हो? कन्हाई कहाँ छिपा है?' ये सखा कोई उत्तर नहीं देते। श्याम सचमुच कहाँ गया? यदि ये न जानते होते तो इस प्रकार क्या मुस्करा पाते? दाऊ समझ गया है कि उस[illegible] भाई कहीं पास ही छिपा है।

'श्याम, कहाँ है तू ?' लेकिन श्याम कहाँ बोलता है। वह क्या दाऊकी पीठके पास कमर झुकाये, सिर उझकाये, सिकुड़ा-सिमटा मुस्करा रहा है। दाहिने हाथकी तर्जनी अधरोंपर रखकर सखाओंको चुप रहनेका संकेत कर रहा है। दाऊ जिधर घूमता है, उधर ही घूमता हुआ पीछे छिपता जा रहा है। कितने खिले हैं उसके नेत्र। कितना प्रसन्न है उसका मुख।

'अच्छा!' दाऊ हँस पड़ा खुलकर। ये सब सखा कहाँ देख रहे हैं ? क्यों ये उसके पीछेकी ओर देख-देखकर हँस रहे हैं ?

'दादा!' श्यामने देख लिया कि दाऊ जान गया। अब वह झटसे पीछे घूम पड़ेगा। पीछेसे ही दोनों भुजाएँ बड़े भाईके कण्ठमें डालकर चिपक गया है पीठसे और गर्दनके पास सिर रखकर हँस रहा है।

दादा इसे नहीं पा सका ढूँढ़कर। किंतु ढूँढ़नेपर इसे कभी किसीने पाया भी है ?

८१—तारक-दर्शन

'मैया! यह कौन-सा तारा है ?' इस गर्मीकी ऋतुमें श्यामसुन्दर बड़े भाईके साथ एक ही शय्यापर खुले आकाशके नीचे सो रहा है। चन्द्रमाका उदय तो अभी दो घड़ी पीछे होगा। निर्मल नील गगन खिले तारकोंसे भर गया है। गो-चारणसे सायंकाल लौटे राम-श्यामको मैयाने स्नान कराया, वस्त्र बदलवाये, भोजन कराया। खा-पीकर अब ये दोनों लेट गये हैं शय्यापर। मैया पास आ बैठी है। कभी कन्हाई और कभी दाऊ मैयासे किसी बड़े चमकते तारेका नाम पूछ बैठते हैं। छोटे तारोंमें इन्हें अभिरुचि नहीं और हो भी तो इतने ढेरों तारोंका नाम मैया जानती कहाँ है।

'निर्मल दिशाएँ, शीतल-मन्द पवन चल रहा है। भूमि खूब सींची गयी है और अब भी पूरी सूखी नहीं है। उज्ज्वल कोमल दूधके फेन-जैसे आस्तरणके ऊपर राम-श्याम लेटे हैं। कभी उनमें एक उठ बैठता है और कभी दूसरा। दो क्षण किसी तारेको देख-दिखाकर या तो वे स्वयं लेट जाते हैं या मैया आग्रहपूर्वक लिटा देती है। मैया शय्यासे नीचे बैठी है सटकर। उसके इन चञ्चल पुत्रोंने शय्याका आस्तरण कुछ सिकोड़ दिया है स्थान-स्थानपर। बार-बार वह आस्तरण ठीक कर दिया करती है एक हाथसे।

'अरे [illegible] कर रहे हैं। [illegible] बैंगनी, पीला। देख, दादा।' कन्हाईने पूर्व और दक्षिणके कोणपर एक तारा देखा है—बड़ा-सा। उस तारेमें कई रंग स्पष्ट दीखते हैं। वह कुछ काँपता-सा भी जान पड़ता है। मोहन उठ बैठा है शय्यापर और आकाशकी ओर मुख करके देख रहा है उसी तारेको।

'रंग-विरंगा तारा ? कहाँ है ?' दाऊ भी बैठ गया है।

'वह—वह है न ?' श्यामसुन्दरने झुककर बड़े भाईके कण्ठमें दाहिनी भुजा डाल दी है। दाऊने भी अपनी बायीं भुजा कन्हाईके कंधेपर धर दी है। दोनों एक दूसरेकी ओर झुक गये हैं। दोनोंके सिर और कान सट गये हैं। कृष्ण-चन्द्र बायाँ हाथ फैलाकर ऊपर दिखा रहा है उस तारेको। दोनोंके मुख ऊपर उठे हैं। दोनोंके विशाल लोचन आकाश-की ओर लगे हैं।

'नीला और लाल—बहुत सुन्दर है यह तो।' दाऊने अपना हाथ छोटे भाईके कंधेसे उठा लिया है और प्रसन्न होकर ताली बजाने लगा है।

'मैया! देख तो तू!' कृष्णचन्द्र अपनी खोजका यह तारा मैयाको भी दिखा देना चाहता है।

'हाँ, हाँ! बहुत अच्छा तारा है, पर अब तुम दोनों सो तो रहो। मैं कहानी सुनाती हूँ।' मैयाको किसी तारेके देखनेमें कोई रुचि नहीं। उसके सम्मुख तो ये दो पूर्णचन्द्र बैठे हैं। भला, क्या होता है कोई नन्हा-सा तारा। मैया अब नहीं चाहती कि ये दोनों जागते रहें।

इन्हें अब सो जाना चाहिये।

८२—गो-सेवक

'नन्दा! घास खायगी तू ? किंतु नन्दाको इस समय घासकी चिन्ता कहाँ है। वह तो आधे नेत्र बंद किये आनन्द-मग्न हो रही है। उसके चारों थनोंसे दूधकी धारा झर रही है।

'कामदा! तू भी आ गयी ?' जब नन्दाको पुचकारा, सहलाया जा रहा है, तब कामदा क्यों नहीं आयेगी। आनेको तो अब कपिला, कृष्णा, चित्रा, गौरी सब आ रही हैं। सब दौड़ी हुंकारती आ रही हैं। उनके हृदयमें यह स्नेह पानेकी क्या कम उत्कण्ठा है।

दाऊ थोड़ी-सी घास ले आया है। दो-दो दूर्वादल वह इस प्रकार बाँट रहा है, जैसे किसी मन्दिरमें उसका पुजारी [illegible] तुलसीदल बाँट रहा हो। गायोंके हाथ नह

हैं, यह तो ठीक; पर उनमें दूर्वा लेनेके लिये किस श्रद्धालुसे कम उत्सुकता है।

'हाँ, हाँ, तुझे भी दूँगा; तनिक ठहरो तो।' मुख ऊपर किये एक दूसरीके मध्यमें घुसती आती गायोंकी यह भीड़ बढ़ती ही जा रही है और दाऊकी नन्ही मुट्ठी! किंतु उसकी मुट्ठी तो अनन्तकी मुट्ठी ठहरी।

'तुझे भी? हाँ।' श्यामसुन्दर सहलानेमें लगा है गायोंको। गायोंके गर्दनके नीचेके भागको और कण्ठकी दोनों बगलोंको वह अपने अरुण कोमल करोंसे सहला रहा है। उसके दोनों हाथ व्यस्त हैं। गायें उत्सुकतासे गर्दन उठाकर मुख आगे कर देती हैं। मोहनके कंधेपर मुख रख देती हैं धीरेसे। वह कभी एक और कभी दूसरीको सहलानेमें लगा है।

रंग-बिरंगी सहस्र-सहस्र गायोंका यूथ वृन्दावनकी इस हरित भूमिपर पुष्पित सघन वृक्षोंके नीचे एकत्र हो गया है। मण्डलाकार हो गया है यह यूथ। एकके पीछे एक सब मुख उठाये आगे घुसनेके प्रयत्नमें लगी हैं। गोपकुमार पृथक् पड़ गये हैं इससे। वे सब चुपचाप दर्शक बन गये हैं।

गायोंके यूथके मध्यमें घिरे हैं राम-श्याम। दाऊके बायें हाथमें एक मुट्ठी दूर्वा और दाहिने हाथसे वह दो-दो तृण बाँट रहा है। गायें हुंकार कर रही हैं बार-बार। उनके स्तनोंसे दूध झर रहा है। बड़ी उत्सुकतासे दूर्वा मुखमें लेती हैं वे और लिये रहती हैं। उसे खा लेनेका स्मरण ही इस समय उन्हें नहीं है।

नील-पीत-वसन ये गौर-श्याम दोनों भाई—अलकोंपर आज नोवनेकी रस्सी लपेट रखी है दोनोंने। बायें कंधे एवं कक्षको घेरकर भी रस्सी लपेट ली है। पटुके कटिमें कस लिये हैं। आज दोनों पूरे गोपाल बने हैं गायोंके समूहसे घिरे।

ये गोसेवक! गायोंसे भी बड़े देवताका पता सृष्टिमें सृष्टिकर्ताको भी नहीं।

८३—पूजन

'ऊँ, ऊँ, ऊँ!' आज दाऊ कुछ गुनगुना रहा है। बिना मुख खोले केवल नाकसे स्वरमात्र निकाल रहा है वह और कभी-कभी चुटकी बजा लेता है।

पुष्पित कदम्बकी एक मोटी शाखा कालिन्दीके कुछ ऊँचे तटसे नीचे जलके पासतक झुक आयी है। उस शाखाका अगला भाग फिर फैलकर ऊपर उठ गया है और फूलोंसे लदी एक मालती लता फैल रही है उस पूरी [illegible] मालतीके हरे सघन पत्तों एवं उज्ज्वल ढेर-के-ढेर पुष्प-स्तबकोंके बीच-बीचमें कदम्बके पीताभ पुष्पोंकी छटा अद्भुत ही है।

दाऊ कदम्बकी शाखापर बैठा है और कालिन्दीके प्रवाहको देख रहा है। उसके नीचे लटके एक चरणको कलकल करती जलधाराकी लहरियाँ बार-बार स्पर्श कर रही हैं।

श्याम जिधरसे प्रवाह आ रहा है, उधर तनिक दूर तटपर अपनी अञ्जलिमें खूब बड़ा-सा, सुन्दर-सा पूरा खिला लाल कमल लिये झुककर कुछ देख रहा है। कुछ अनुमान कर रहा है। बैठकर अनुमान करके कमलपुष्पको धारापर छोड़ दिया उसने और फिर झुककर, मस्तक बायीं ओर लटकाकर देखने लगा—उसका पुष्प ठीक स्थानपर जाता है या नहीं।

दाऊकी दृष्टि नीचे गयी। बहुत सुन्दर सरोज उसके चरणोंसे आ लगा है। 'यह किसका पूजनोपहार है?' दृष्टि तटके साथ आगे गयी। श्याम अब भी झुका देख रहा है और प्रसन्न हो रहा है। दाऊके नेत्र अद्भुत भावसे भर गये हैं।

'दादा, आऊँ मैं?' कन्हाई एक हाथमें वंशी लिये दौड़ा-दौड़ा आया है। वह दाऊके मुखकी ओर देखनेके बदले उसके चरणोंके पास जलमें स्थिरप्राय अपने पद्मपुष्पको ही झाँक रहा है।

'आ जा!' दाऊ तनिक-सा हिला, किंतु श्याम तो इस अनुमतिसे पहले ही डालपर चढ़कर जाने लगा।

'दादा, यह तेरा पूजन कर रहा है।' बड़े भाईके बायीं ओर उससे सटकर, उसके कंधेपर दाहिना हाथ रखकर कृष्णचन्द्र बैठ गया है। अब भी उसकी दृष्टि नीचे पुष्पपर है।

'ये सुरभित श्वेत सुमन तेरे चरणोंके पास ही घूम रहे हैं।' दाऊ मालतीके पुष्प तोड़कर गिराता जा रहा है। कुछ मोहनकी अलकोंमें उलझ गये हैं और कुछ जलमें लटके श्यामसुन्दरके चरणोंके पास नाच-से रहे हैं।

कदम्बकी हरितिमासे भरी श्वेत पुष्पोंके मध्य पीत कुसुमोंसे सजी शाखापर बैठे गौर-श्याम और नीचे कालिन्दीके प्रवाहमें लटकते उनके अरुण सरोज-से चरणोंके पाससे बहुत-से श्वेत सुमनोंके मध्य विकच अरुण कमल। इन दोनोंमें किसने किसका पूजन किया? कालिन्दी दोनोंके [illegible]

८४—कर्मयोगी

'कनूँ ! अपनी गायें थोड़ी देरमें पानी पीयेंगी। यहाँ कगार उतरने योग्य तो है नहीं। चल, यहाँसे हम सब चलें।' भद्रको भी यह फूलोंसे लदा हुआ यमुना-तट बहुत रुचा है, किंतु कगार ऊँचा है यहाँ। गायोंको जल तो पिलाना ही पड़ेगा।

तटकी भूमिको गायोंके उतरने योग्य बना लें हम सब। श्यामसुन्दरने बड़े भाईकी ओर देखा कि कहीं दादा मना न कर दे।

'यहाँकी भूमि उतरने योग्य बनेगी ?' भद्रका संदेह अकारण नहीं है। क्या हुआ जो कगार रेतीला है और थोड़े श्रमसे गिर पड़ता है। बहुत ऊँचा है कगार। गायोंकी इतनी बड़ी संख्या उतर सके, इसके लिये कुछ हाथ-दो-हाथ पतला मार्ग बनानेसे काम नहीं चल सकता।

'बनेगी ! बनेगी क्यों नहीं ?' कन्हाईका स्वभाव ही सबसे भिन्न है। इसे असम्भव कुछ जान ही नहीं पड़ता। इससे तो पूछो कि 'आकाशके तारे खेलनेको मिलेंगे ?' तो भी कहेगा—'मिलेंगे ! मिलेंगे क्यों नहीं।' और जब यह हठपर उतर आता है, इसके लिये कुछ अशक्य नहीं। यह ऐसी युक्तियाँ सोच निकालता है कि कोई नहीं कह सकता कि अपने नन्हे पटुकेके छोरमें तारोंको उलझाकर खींच लेना इसके लिये सचमुच ही असम्भव है।

'दादा ! तू मेरा पटुका और वंशी रख।' श्यामने कछनी समेट ली है, वनमाला उतार धरी है और अलकें पीछे कर दी हैं।

'तू बैठ, मैं मार्ग बनाये देता हूँ।' दाऊ उठ खड़ा हुआ है। कृष्णचन्द्र परिश्रम करेगा और वह बैठा रहेगा ? उसका छोटा भाई व्यस्त बने, इससे तो वह अकेले ही मार्ग बना दे—यही अच्छा।

'ना, दादा ! हम सब मिलकर मार्ग बनायेंगे !' श्यामसुन्दरने बड़े भाईकी ओर विचित्र भङ्गीसे देखा।

'अच्छा चल !' दाऊने भी पटुका और वनमाला उतारकर श्यामके पीतपटके साथ रख दिया।

शतशः गोपकुमार लग गये हैं कगार गिराकर मार्ग बनानेमें। कोई लकुटसे रेत गिराता है, कोई पैरसे और कोई दोनों हाथोंसे। कोई गिरी रेतको सम करता है, कोई नीचे ठेलता है, [illegible] कर रहे हैं।

'तू रोटी खा आ, तब काम करना।' कन्हाई किसीको चिढ़ाता है, किसीकी प्रशंसा करता है, किसीपर रेतकी मुट्ठी डालता है, किसीको ठेलकर ढालपर लुढ़का देता है। सब हँसते हैं, परस्पर ठेलमठेल करते हैं, लुढ़कते हैं, पुकारते-चिल्लाते हैं और फिर भी पूरे उत्साहसे काममें लगे हैं।

धूलसे भरी अलकें और शरीर, स्वेदसे आर्द्र पूरा श्रीअङ्ग, कुछ अरुण बना हँसता मुखचन्द्र जुटा है श्यामसुन्दर मार्ग बनानेमें। वह बार-बार आग्रह करता है—'दादा, तू बैठ अब ! देख, हमने कितना चौड़ा मार्ग बना दिया।'

'कनूँ, तू अब रहने दे !' दाऊ छोटे भाईको रोकनेका अत्यधिक प्रयास करता है।

जुटे हैं ये दोनों कर्मयोगी और इनका बनाया मार्ग—गायोंके लिये ये मार्ग बना रहे हैं।

विश्वके लिये इनको छोड़कर कोई दूसरा मार्गनिर्माता कहाँसे आयेगा ?

८५—झगड़ा

'दादा ! कनूँ मेरी सब रोटी खा रहा है।' सुबाहु आज बहुत रुष्ट है। क्रोधसे तमतमाया हुआ है इसका मुख। क्रोध करनेकी बात भी है। कोई किसीका छीका चुपचाप उठा ले और उसकी सामग्री उदरस्थ करने लगे, पूछनेपर मुँह बनाकर चिढ़ाये तो छीकेका स्वामी क्रोध नहीं करेगा ?

'तू मेरे छीकेको ले ले; जितना जीमें आये, खा ले तू उसमेंसे।' दाऊके छीकेमें इतनी सामग्री रहती है कि उससे एक तो क्या चार-छः मजेसे छक सकते हैं।

'वह मुझे अँगूठा दिखाता है, मुँह चिढ़ाता है।' केवल भोजनका प्रश्न होता तो इतना बखेड़ा क्या था। सुबाहु इस प्रकार मान नहीं सकता। वह कह रहा है—'मैं लड़ूँगा उससे।'

'अच्छा चल !' दाऊ उठ खड़ा हुआ। सुबाहु अवस्थामें छोटा है। शरीरसे भी दुबला-पतला है। वह अकेला ही लड़ पाता तो दाऊ दादाके पास दौड़ा नहीं आता।

मालतीकी सघन कुञ्जमें श्यामसुन्दर एक छीका सामने रखे बैठा है। सुबाहुको देखते ही उसने अवशिष्ट रोटी मुखमें भर ली और उठ खड़ा हुआ। फूले हुए दोनों कपोल—दोनों हाथोंके अँगूठे खड़े करके, पूरी भुजा आगे फैलाकर सुबाहुको चिढ़ा रहा है वह। मुख भरा है, किंतु नेत्र वि[illegible] देख[illegible] कोई कोर-कसर नहीं।

'कनूँ !' अरे दाऊ दादा भी पीछे है, कन्हाईको यह तो पता ही नहीं था। अब उसकी भोली भङ्गी देखने योग्य है। मुख लटकाये किसी प्रकार मुखका ग्रास निगल लेनेका प्रयत्न करते कितना सीधा, कितना सरल दीखता है यह बड़े भाईके सामने !

'दादा ! मुझे खूब भूख लगी थी।' मुख खाली करके श्यामसुन्दरने अग्रजके बिना पूछे ही अपनी निर्दोषता बतायी। इसे भूख लग जाय तो यह दो पद भी चल नहीं पाता। अचानक लगती है इसे भूख।

दाऊ अपने छोटे भाईका स्वभाव जानता है। किंतु इसका माखन खट्टा था और रोटी तो सर्वथा फेंक ही देने योग्य थी। ओह ! भूख ऐसी थी कि ऐसे पदार्थसे भी काम चलाना पड़ा।

'यह तुझसे लड़ने आया है।' दाऊके मुखपर स्मित आ गया है।

'आ, लड़ ले।' दादा प्रसन्न है तो श्याम झिझकनेवाला कहाँ है। यह लो, कछनी कस ली इसने।

'किंतु तू रोटी खाकर तगड़ा हो गया है और यह भूखसे दुबला हो रहा है।' दाऊ अन्याय नहीं होने देगा। 'तू इसे पहले अपनी छाक खिला।'

'मैं इसकी छाक नहीं खाऊँगा।' सुबाहुकी स्वीकृति अब कौन सुने ? श्याम तो अपना छीका लेने दौड़ गया है।

'दादा ! तू इसके हाथ पकड़े रह।' बेचारे सुबाहुके हाथ तो दाऊने पकड़ लिये और श्याम उसे बार-बार गुदगुदाकर भरता जा रहा है उसके मुखमें मोदक, नवनीत, दही-भात। दोनों भाई हँस रहे हैं और भोजनके ग्रास मुखसे भीतर उतारता भी सुबाहु झगड़ रहा है। उसे छोड़ते क्यों नहीं ये दोनों।

८६—वर्षामें

'कनूँ, भाग ! वर्षा आ रही है।' दाऊने अपने कम्बलकी 'घोघी' सिरपर रख ली और दौड़े वे छोटे भाईकी ओर। यह श्याम न आँधी देखता न पानी। कितनी दूर डाल रखी है अपनी कमरिया इसने। श्यामका कम्बल उठाकर उसकी भी घोघी बनाकर उन्होंने मोहनके सिरपर रखा—'सुनता नहीं, कितने जोरका पानी आ रहा है। देख उधर।'

'अरे !' अब दृष्टि गयी कृष्णचन्द्रकी। सन्[illegible] तो बड़े जोरसे आ रहा है। बड़ी भारी हरहराहट है और अब तो आँधी आ भी गयी है। वृक्षोंकी शाखाएँ झकोरे लेने लगी हैं, लताएँ झकझोर उठी हैं, गायें पूँछ उठाकर 'हम्मा, हम्मा' करती दौड़ी जा रही हैं भाण्डीर-वटकी ओर। वनपशु भी भाग रहे हैं।

'भाग, दादा ! भाग !' अब मोहन बड़े भाईका हाथ पकड़कर भागने लगा है। काले कम्बलकी घोघी ओढ़े ये दोनों भाई दौड़ते जा रहे हैं। गोपकुमार गायोंको भगाये आगे-आगे थोड़ी दूर निकल गये हैं। 'दादा, गुफामें चल।'

यह शरद् ऋतुकी वर्षा—अभी कुछ क्षण पूर्व धूप निकल रही थी। पता नहीं किधरसे मेघका एक खण्ड आ गया और देखते-देखते बड़ा हो गया। 'पड़, पड़, पड़' बड़ी-बड़ी बूँदें गिरने लगी हैं तीव्र वायुके वेगमें तिरछी होकर। अब राम-श्याम भागे जा रहे हैं। उनका पूरा शरीर छिपा है काले कम्बलोंके नीचे। हरी-हरी दूर्वासे आच्छादित जलसे आर्द्र भूमिपर दोनोंके लाल-लाल चरण बड़ी शीघ्रतासे पड़ रहे हैं।

'दादा !' गुफामें पहुँचकर दोनोंने घूमकर बाहरकी ओर देखा। श्यामके मुखपर प्रसन्नता है। एक भाव है—'हम कैसे भाग आये।' अलकोंमें हीरक-कण-से जलके कुछ सीकर उलझ रहे हैं।

'बड़ी शीतल हैं !' गुफामें कुछ दूरतक बौछारकी बूँदें आ रही हैं। अपना एक हाथ बढ़ाकर श्यामने हाथपर बूँदें लीं और फिर खींच लिया हाथको।

'तू हाथ क्यों भिगाता है।' दाऊने छोटे भाईका हाथ पकड़कर खींच लिया पूरा और श्यामको अपने पास समेट लिया—'कितनी ठंड है।'

बाहर वृक्षोंकी शाखाएँ झूम रही हैं, लताएँ झुकी पड़ती हैं, बड़ी-बड़ी बूँदें पड़ रही हैं। पृथ्वीपर जल बह चला है। दूर भाण्डीर-वटके नीचे गायों एवं गोपकुमारोंका समूह एकत्र हो गया है और यहाँ गुफामें कम्बलोंमें लिपटे, केवल मुख खोले, परस्पर सटे बैठे हैं ये राम-श्याम।

'दादा !' कन्हाई बीच-बीचमें ताली बजाता प्रसन्न होता है किसी वृक्षका हिलना या किसी पशुका भागना देखकर।

'तू हाथ बाहर मत निकाल।' दाऊ समेट लेना चाहता है अपने अनुजको।

८७–निर्भय

'मैया ! आज वनमें मुझे तो लंगूरोंने घेर ही लिया था ।' यह श्यामसुन्दर नित्य कोई-न-कोई नवीन समाचार लाता है वनसे । मैया वैसे ही आशङ्कित रहती है और उसपरसे यह समाचार । अब पूरी बात सुननेका धैर्य उसे कहाँ है । वह अपने इस सुकुमार पुत्रका एक-एक अङ्ग बड़ी व्याकुलतासे देख रही है कि कहीं बंदरोंने इसे नोचा तो नहीं ।

''मैया ! खूब बड़े-बड़े मोटे-मोटे लंगूर थे ।' अब दोनों हाथ फैलाकर, मुख खोलकर, नेत्र फाड़कर कन्हाई बता रहा है—'बड़ी लंबी-लंबी थीं उनकी पूँछें । बड़े-बड़े दाँत थे । मुख फाड़कर सब मुझे डरा रहे थे । 'हूप, हूप' करके कूद रहे थे ।''

गोचारणसे लौटकर कृष्णचन्द्र मैयाकी गोदमें बैठ गया है आते ही । मैया भूल गयी है कि इसके हाथ-पैर धुलाने हैं, मुख धोना है, वस्त्र बदलने हैं, जलपान कराना है । आते ही इसने ऐसा विवरण देना प्रारम्भ किया है कि मैयाका हृदय धक्-धक् करने लगा है । वह बार-बार पूछती है—'उन सबोंने तुझे कहीं काटा तो नहीं ?' पर यह उत्तर देनेके बदले अपनी धुनमें कहता ही जा रहा है । कभी गोदसे उतरकर 'हूप, हूप' करके कूदकर बतलाता है, कभी मुख दिखाता है खोलकर, कभी हाथोंको पंजेके समान बनाता है ।

'मैं तो बहुत डर गया था । दादाको बहुत पुकारा मैंने, पर दादा भी नहीं आया । यह तो उलटे ताली बजा-बजाकर हँस रहा था ।' बड़े भाईकी ओर श्यामने देखा ।

'तुम अपने छोटे भाईको सम्हालते नहीं ?' मैयाने उलाहना दिया दाऊको । कैसा है यह दाऊ ? यह तो अब भी ताली बजाकर सिर हिला-हिलाकर हँस रहा है । इतनी प्रसन्नता क्यों है इसे ? क्या मिल गया है इसको ?

'कनूँ, तुझे कोई काट भी सकता है क्या ?' दाऊने मैयाके उलाहनेपर ध्यान ही नहीं दिया । उसने तो छोटे भाईका हाथ हँसते-हँसते पकड़कर हिला दिया ।

'कहाँ ? मुझे तो कोई कभी नहीं काटता !' श्यामसुन्दर अपनी दोनों भुजाएँ और उदर ऐसे देख रहा है, जैसे अभी ढूँढ़ रहा है कि किसीने कभी उसे काटा भी है क्या । 'मैया, मुझे कोई नहीं काटता ! बताऊँ ?'

'अच्छा रहने दे तू !', गोदसे उठनेको उद्यत पुत्रको मैयाने अङ्कमें समेट लिया । अब यह पता नहीं क्या बतायेगा । गायके, कुत्तेके, बिल्लीके—किसीके मुखमें हाथ डाल देना साधारण बात है इसके लिये ।

वे लंगूर कैसे भागे, यह जाननेकी बहुत उत्सुकता हो तो अब आप किसी लंगूरसे जाकर पूछिये । मैयाने तो अपने लालको अङ्कमें दबा रखा है । उसे कुछ जानना नहीं । उसके पास यह दाऊ हँसता खड़ा है । कोई लंगूर उसके पास आनेका साहस नहीं कर सकता इस समय । उसकी गोदमें उसका लाल पूरा निर्भय है ।

सखाओंके साथ खेल

सखनि सँग खेलत दोऊ भैया ।
रुचिर खेल बहु भाँति, मुदित मन दाऊ, कुँअर कन्हैया ॥
धावत मिलि गैयन के पाछे बोलत 'हैया हैया' ।
ईश्वरपनो बिसारि, अग्य-से नाचत ताता थैया ॥
कोमल किसलय लेइ बनाई एक नैक-सी नैया ।
लाइ तराय दई जमुना मैं हँसि-हँसि जात बलैया ॥
डूबन लगी तरी जलमें तब, 'हा मैया, री मैया' ।
लगे पुकारन—'नारायन ! अब तुम ही बनो खेवैया' ॥
लरत कबौं, रूठत, रिझवत, पुचकारत दै गलबैयाँ ।
धन्य भाग्य ये हरि के प्यारे नैक नैक-से छैया ॥

विश्वशान्तिका अमोघ उपाय

(लेखक—लाला श्रीहरदेवसहायजी)

भौतिक विज्ञानसे मनुष्यको भोगके साधन अधिक प्राप्त हुए। बाह्य सुख भी मिला। पर विज्ञानकी उन्नतिके परिणामस्वरूप संसारके सभ्य और उन्नत कहलानेवाले देशोंमें भी मानवका संहार करनेवाले अस्त्र-शस्त्रोंकी होड़ लग गयी। पचास वर्ष पूर्वके युद्धोंमें बंदूक और तोपोंको ही अधिक प्रभावशाली संहारक साधन माना जाता था। सन् १९१४-१८ की लड़ाईमें टैंकों, तोपों और साधारण हथगोलोंसे काम लिया गया। इसके बीस वर्ष बाद दूसरे युद्धमें अधिक संहार करनेवाली मशीनी तोपें, तरह-तरहकी मशीनगनें और हवाईजहाज युद्धके साधन बने। अणुबमका भी श्रीगणेश हुआ। अमरीकी अणुबमोंने जापानके नागासाकी और हीरोसीमा नगरोंको कुछ ही क्षणोंमें विध्वंस कर दिया। युद्धमें रत सैनिकोंका ही नहीं, लाखों निरपराध स्त्रियों, बालकों और बूढ़ों, बीमारोंका भी निर्दय संहार हुआ। करोड़ोंकी सम्पत्ति खाक हो गयी। इस दुर्दशाका प्रभाव जापान, जर्मनी आदि अंग्रेज-अमरीकाके विरोधियोंपर पड़ा। जापानने शस्त्र डाल दिये, जर्मनी और इटली भी पराजित हुए। प्रथम विश्वयुद्धकी समाप्तिकी तरह द्वितीय विश्वयुद्धके अन्त होनेपर संसारके भिन्न-भिन्न देशोंने मानवता और सभ्यताके नामपर भविष्यमें युद्धोंको बंद करनेकी कोशिश आरम्भ की। विश्वशान्तिके नामपर सुरक्षा-परिषद् और तरह-तरहके संगठन बनाये गये। पर साथ-साथ अपने-आपको सभ्य और शान्तिप्रिय कहलानेवाले रूस, अमेरिका, इंग्लैंड इत्यादि देशोंने अधिक-से-अधिक मनुष्योंका शीघ्रातिशीघ्र संहार करनेवाले अस्त्र-शस्त्रोंकी दौड़ोंको और भी तेज कर दिया। अणुबमसे उन्नति करके परमाणुबम, हाइड्रोजनबम और राकेटतक तैयार किये। मानवताके नामपर अपील करने तथा सभ्य एवं प्रगतिशील कहलानेवाले देशोंके राजनीतिज्ञों और विशेषज्ञोंने सारे संसारको ज्वालामुखी-पर्वतपर खड़ा कर दिया। न मालूम कब यह ज्वालामुखी फट पड़े तथा संसार, और हो सकता है इन भीषण अस्त्र-शस्त्रोंके बनानेवाले भी, उसीकी ज्वालाओंसे भस्म हो जायँ।

अहिंसाका प्रभाव

संसारके शान्तिप्रिय विचारक और सहृदय लोग इस मानव-विनाशके साधनोंकी होड़से चिन्तित हैं। [illegible] को रोकनेके लिये अहिंसा, सह-अस्तित्व और पञ्चशील आदि उपाय बताये जाते हैं। यदि ईमानदारीसे अमल हो तो विश्वमें शान्ति स्थापित करनेके लिये अहिंसा एक अमोघ साधन है। महर्षि पतञ्जलिने योगदर्शनमें लिखा है—

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः।

'अहिंसामें स्थित होनेपर अहिंसक योगीके समीप (सहज वैर रखनेवालोंका भी) वैर छूट जाता है।'

हमारे देशमें भी ऐसे योगी महापुरुष हुए हैं, जिनके आश्रमोंके निकट सिंह और हिरन साथ-साथ रहते थे। कुछ वर्ष पहले ही वनोंमें रहनेवाले ऐसे महापुरुष थे, जिनके चारों ओर दूर-दूरतक किसी भी पशुपर चलायी हुई गोली व्यर्थ जाती थी, या बंदूक चलती ही नहीं थी। प्राचीन ग्रन्थोंमें ऐसे समयका उल्लेख मिलता है जब कि न राजा थे न राज-दण्ड, अपितु अहिंसा और प्रेमके कारण जनता ही सारे सांसारिक व्यवहार बिना किसी कानून और दबावके स्वयं करती थी। प्रसिद्ध विचारक श्रीएच० जी० वेल्जने 'आनेवाली बातें' पुस्तकमें विश्वशान्तिके भविष्यकी बाबत लिखा है कि 'जब युद्धके वर्तमान साधन और विज्ञानके दुष्प्रभाव समाप्त हो जायँगे, मानवशक्तिसे ही उपयोगमें आनेवाले चक्की, चूल्हे, चरखे, गाड़ी आदि ही साधन होंगे, तब संसारके लोग भाई-भाईकी तरह मिलकर विचार करेंगे। संसारसे युद्धोंका भय दूर होगा। सब लोग भाईचारेसे बसेंगे।' लार्ड टैनीसनूने भी 'मेरा स्वप्न' कवितामें ऐसे ही विचार प्रकट किये हैं।

साधारण उपायोंसे इतने बड़े संसारमें शान्ति स्थापित करनेमें शीघ्र सफलता मिलनेकी सम्भावना नहीं। अत्यन्त प्रभावशाली 'अहिंसा-साधना'की आवश्यकता है। यदि दृढ़ सिद्धान्तोंको सम्मुख रखते हुए कार्य आरम्भ कर दिया जाय तो आज नहीं कल, सबेर नहीं कुछ देरमें, अवश्य सफलता मिलेगी—

'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।'

इस धर्मका थोड़ा व्यवहार भी बड़े भयसे रक्षा करता है, करेगा। आज हमारे देशके कुछ प्रभावशाली सज्जन बार- [illegible] वैर, कलह

और अशान्ति बढ़ती जा रही है । जाति, प्रान्त, भाषा इत्यादिके नामपर नित्य वैमनस्यके कारण उत्पन्न होते जा रहे हैं । प्रश्न होता है कि 'अहिंसाका सिद्धान्त माननेपर भी यह दोष क्यों ?' इस प्रश्नका उत्तर प्राप्त करनेके लिये सर्वप्रथम यह जान लेना अत्यन्त आवश्यक है कि अहिंसाकी परिभाषा क्या है, अहिंसा किसे कहते हैं, अहिंसाके प्रचारक नेता उसपर कहाँतक अमल करते हैं ।

अहिंसाकी परिभाषा

अहिंसाकी दुहाई देनेवाले कुछ सज्जन अपने विरोधियोंके विरुद्ध कटु शब्दोंका प्रयोग करते, गोलियों और लाठियोंके द्वारा शान्ति स्थापित करनेकी कोशिश करते, स्वयं मांस खाते और मांसको प्रोत्साहन देते हैं, फिर भी अपने-आपको अहिंसक प्रकट करते हैं । कुछ लोग पशु-पक्षियोंकी हिंसाको हिंसा नहीं मानते, केवल मनुष्यतक ही हिंसाको सीमित रखते हैं । पर यह ठीक नहीं । महर्षि पतञ्जलिने अहिंसाको मनुष्यके हृदयको शुद्ध और ज्ञानका प्रकाश करनेवाला 'सार्वभौम महाव्रत' बतलाया है । महर्षि व्यासने महर्षि पतञ्जलिकी अहिंसाका भाष्य करते हुए कहा है—

सर्वथा सर्वदा प्राणिनामविद्रोहोऽहिंसा ।

अर्थात् सदैव सब प्रकारसे प्राणिमात्रके प्रति विद्रोह या उन्हें नुकसान पहुँचानेकी भावना न रखना अहिंसा है । 'अहिंसा' और 'हिंसा' दोनों शब्द बहुत प्राचीन हैं । 'हिंस्' धातुका अर्थ है—मारना । वेदका एक महान् आदर्श है—'मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि' प्राणीमात्रकी हिंसा मत करो । योगदर्शनके सूत्र २ । ३४ में लिखा है—

हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता··········

तथा मनुमहाराजने—

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी ।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः ॥

—स्वयं हत्या करनेवालेको ही नहीं, समर्थन करने और अनुमति देनेवाले इत्यादिको भी हत्यारा बतलाया है । भगवान् बुद्धने ब्राह्मण धम्मिय सुत्तमें लिखा है—

तयो रोगा पुरे आसुं इच्छा अनसनं जरा ।
पसूनं च समारम्भा अट्ठनावति मागमुं ॥
सब्बे तसन्ति दण्डस्य सब्बे भावन्ति मच्चुनो ।
अत्तानं [illegible] पातु [illegible]

[illegible] कर रहे हैं ।

'पहले तीन ही रोग थे—इच्छा, भूख और जरा या बुढ़ापा । पशुओंकी हिंसासे वे अट्ठानवे हो गये । दण्डसे सभी डरते हैं, मृत्युसे सभी भयभीत होते हैं । औरोंको भी अपने-जैसा ही समझकर न उनका हनन करें न आघात करें ।'

सम्राट् अशोकने, जिनका चक्र-चिह्न हमारे देशके राष्ट्रध्वजमें रखा गया है, गिरनारके शिला-शासनमें प्राणीमात्रकी हिंसाका निषेध किया है । सम्राट् अशोक और हर्षके समयमें पशुहत्या करनेवालोंको प्राणदण्डतककी सजा दी जाती थी । जैनधर्मके पंच-महाव्रतोंमें अहिंसा-व्रत आद्य माना गया है । जैन मुनियोंके उपदेशोंसे कुछ मुसल्मान बादशाहोंने भी विशेष दिनों तथा विशेष स्थानोंमें पशुहत्यापर प्रतिबन्ध लगाया । जैनधर्ममें सूक्ष्म प्राणियोंकी हत्या और उन्हें कष्ट देनेतकका निषेध किया गया है । चीनी यात्री फाहियानने लिखा है कि द्वितीय चन्द्रगुप्तके समय देशभरमें प्राणी-हिंसा नहीं होती थी । दूसरे चीनी यात्री ह्वेनसाँगने हर्ष तथा शिलादित्यके समय प्राणीमात्रके हिंसा-निषेधका उल्लेख किया है । हिंदू, जैन और बौद्ध ही नहीं, ईसाई और मुस्लिम महापुरुषोंने भी हिंसाको प्रोत्साहन नहीं दिया ।

महात्मा ईसा कहते हैं—

"Thou shalt not kill, and ye shall be holy men unto me; neither shall ye eat any flesh that is torn of beasts in the field."

'किसीको मत मार । जंगलोंके प्राणियोंका वध करके उनका मांस मत खा ।'

बाइबिलके एक अवतरणमें आया है—'मारे जानेवाले जानवरोंके लिये अपनी जबान खोलो ।'

कुरान-शरीफमें लिखा है—

'हरा पेड़ काटनेवाले, जानवरको मारनेवाले इत्यादिको खुदा माफ नहीं कर सकता । खुदा उसीपर दया करता है, जो उसके बनाये जानवरपर दया दिखाता है ।' सुरात-ए-हजमें लिखा है—'खुदा तुम्हारी कुर्बानीमें जानवरका मांस और लोहू नहीं चाहता, वह सिर्फ तुम्हारी पवित्रता चाहता है ।'

उपर्युक्त सभी तथ्योंसे यह सिद्ध होता है, कि हिंदू-जैन ही नहीं, ईसाई एवं मुस्लिम मतानुसार भी मनुष्य ही नहीं, प्राणीमात्रको कष्ट न देना, न मारना अहिंसा है । अहिंसाका सीमित अर्थ माननेके और कारण भी हो सकते हैं, यहाँ इसके वि[illegible] उदाहरण दिया जाता है—

बाइबलमें संत ल्यूककी वार्तामें जब संत जानसे सिपाही कहते हैं 'कि क्राइष्ट आनेवाले हैं, उस समय हमें क्या करना चाहिये ?' इसके उत्तरमें वे तीन आज्ञा करते हैं—किसी मनुष्यपर बलप्रयोग (Violence) नहीं करना, किसीपर मिथ्या आरोप न लगाना और तुम्हें जो रोजी मिलती हो, उसीमें संतुष्ट रहना। वर्तमानमें जो अहिंसाका प्रयोग non-violence के अर्थमें किया जाता है, वह केवल अर्थ-विस्तारके कारण ही किया जाता है। अंग्रेजीके (Violence) का बल-प्रयोग न करना, यह अर्थ ही मौलिक है। खास करके राजनीतिमें इस शब्दके आ जानेके कारण 'हिंसा' और 'अहिंसा' शब्द मनुष्यकी हिंसाके लिये ही लागू होते हैं, ऐसा माना जाता है और सामनेवालेको चोट पहुँचाना, उसके प्रति हथियारोंका प्रयोग करना, अथवा किसीके साथ युद्ध या लड़ाई करनेके प्रसङ्गमें इसका व्यवहार किया जाता है। वस्तुतः जैसे सत्याग्रह और Passive Resistance का अर्थ एक नहीं है, वैसे ही अहिंसा और Non-violence का अर्थ भी एक नहीं। वस्तुको यदि बहुत वजन न दिया जाय तो भी बड़ी गड़बड़ी मच जाती है, यह स्पष्ट होता जा रहा है। उदाहरणके लिये अपने प्रचलित देशीय अर्थमें मनुष्येतर प्राणियोंकी हिंसा भी हिंसा ही समझी जाती है। पर आज हमारे अपने देशमें, जिसकी संस्कृति 'अहिंसाप्रधान' रही है, जहाँ आज भी करोड़ों मनुष्य प्राणी-हत्याको हिंसा मानते हुए मांसका किसी रूपमें व्यवहार नहीं करते, उस देशमें आज सरकारी स्तरपर पशुहत्या—मछली, मुर्गी, बंदर इत्यादिके वधको प्रोत्साहन दिया जा रहा है। कत्ल किये पशुओंके अङ्गोंसे दवातक तैयार करनेकी योजनाएँ बन रही हैं। राज्य तथा राज्य-समर्थन प्राप्त करके प्राणी-हिंसा बढ़ानेवाले साहित्य-प्रकाशनमें सहायता दी जा रही है। फिर भी, राजनीतिक लोग ही नहीं, उनके प्रभावमें आनेवाले कुछ धार्मिक साधु-संत और विद्वान् भी बढ़ी हुई प्राणी-हिंसाकी उपेक्षा करके अहिंसाका नाम लेकर प्रकारान्तरसे जीवहत्याको अप्रत्यक्ष प्रोत्साहन दे रहे हैं।

वाचिक अहिंसा तथा अमली हिंसाका दुष्परिणाम

बड़े-बड़े राजनीतिज्ञों और धर्मका नाम लेनेवालोंके बार-बार अहिंसाका उपदेश देनेपर भी प्राणियोंका वध जारी रहने या उसे प्रोत्साहन देनेके कारण मनुष्यतक सीमि[illegible] प्रचारसे कोई लाभ नहीं पहुँचा, हानि ही हो रही है। गाँव-गाँव, नगर-नगरमें एकता नहीं, परस्पर दुर्भावना बढ़ रही है, देशका वायुमण्डल विषैला बन गया है। प्रान्तवाद, जातिवाद, पक्षवाद और भाषावादके कारण मनुष्य मनुष्यका शत्रु बन गया है। शासक-दल भी परस्परके कलह और वैमनस्यसे नहीं बचा। प्रान्त-प्रान्तमें शासकदलके लोग छोटी-छोटी बातोंके लिये परस्पर लड़ रहे हैं। शासन और जनतामें सद्भावना और सहयोग न होनेके कारण साधारण बातोंके लिये विरोधी आन्दोलन होते रहते हैं। इनसे यह सिद्ध होता है कि हमारा आजका अहिंसा-प्रचार दोषपूर्ण होनेके कारण जनतापर उसका कोई प्रभाव नहीं है।

अन्य प्राणी भी मनुष्यकी तरह प्राण धारण करते हैं, जीव हैं। जो व्यक्ति किसी भी प्राणीसे द्वेष रखता या उसकी हत्या करता-कराता है, उसके हृदयमें प्रेम तथा सद्भावना जाग्रत् नहीं हो सकती, हिंसाकी दुर्भावना ही रहती है। और जबतक प्राणीमात्रके प्रति अविद्रोह या प्रेमकी भावना उत्पन्न नहीं होगी, तबतक मानव-मानवके बीच भी अहिंसाका भाव उत्पन्न नहीं हो सकता। शास्त्रोंमें स्पष्ट कहा गया है—

'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।'
'परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥'

'जो काम अपनी आत्माको बुरा लगता है, उसका अमल अन्य प्राणियोंके साथ न करो।' 'दूसरोंके उपकारके समान कोई पुण्य नहीं और दूसरोंको दुःख देनेके समान कोई पाप नहीं है।' ये अहिंसाके मूलमन्त्र हैं। इनपर अमल करनेसे ही शान्ति प्राप्त होगी।

जबतक पशुवध या मांसाहार जारी रहेगा, तबतक न युद्ध बंद होंगे न मनुष्योंमें परस्पर सद्भावना बढ़ेगी। संसारके प्रसिद्ध विचारक श्रीजार्ज बर्नार्ड शाने लिखा है—'यदि हम निरीह पशुओंके साथ अपने लाभके लिये इसी प्रकारका खिलवाड़ करते रहेंगे तो संसारमें जिस शान्तिके लिये हम इतने उत्सुक हैं, उसे कैसे प्राप्त कर सकेंगे। हम वध किये पशुओंकी शत-शत कब्रोंपर खड़े होकर ईश्वरसे शान्तिके लिये प्रार्थना करते हैं, जब कि हम नैतिक नियमोंका उल्लङ्घन कर रहे हैं। इस प्रकारकी क्रूरता युद्धको जन्म देती है।'

महाभारत, अनुशासनपर्व और मनुस्मृतिमें मांस खानेवालों- [illegible]

* * [अ[illegible]

स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति ।
नास्ति क्षुद्रतरस्तस्मात् स नृशंसतरो नरः ॥

'जो मनुष्य दूसरेके मांससे अपना मांस बढ़ाना चाहता है, उससे बढ़कर नीच और कोई नहीं है, वह अत्यन्त निर्दयी है ।'

स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति ।
अविश्वास्योऽवसीदेत् स इति होवाच नारदः ॥

श्रीनारदजी कहते हैं 'जो दूसरोंके मांससे अपना मांस बढ़ाना चाहता है, वह विश्वासपात्र नहीं रहता, उसे दुःख उठाना पड़ता है ।'

स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति ।
उद्विग्नवासो वसति यत्र यत्राभिजायते ॥

'जो दूसरोंके मांससे अपना मांस बढ़ाना चाहता है, वह जहाँ कहीं भी जन्म लेता है, सदा बेचैन ही रहता है ।'

भीष्मपितामह धर्मराज युधिष्ठिरसे कहते हैं—

ये भक्षयन्ति मांसानि भूतानां जीवनैषिणाम् ।
भक्ष्यन्ते तेऽपि तैर्भूतैरिति मे नास्ति संशयः ॥
मांस भक्षयते यस्मात् भक्षयिष्ये तमप्यहम् ।
एतन्मांसस्य मांसत्वमनु बुद्ध्यस्व भारत ॥
घातको हन्यते नित्यं यथा बध्येन बन्धकः ॥

'जो जीवित रहनेकी इच्छावाले प्राणियोंका मांस खाते हैं, वे भी उन प्राणियोंके द्वारा दूसरे जन्ममें खाये जाते हैं—मुझे इस विषयमें तनिक भी संदेह नहीं है । युधिष्ठिर ! जिसका वध किया जाता है, वह प्राणी कहता है—'आज मुझे वह खाता है, तो मैं भी उसे कभी खाऊँगा ।'

जाताश्चाप्यवशास्तत्र भिद्यमानाः पुनः पुनः ।
हन्यमानाश्च दृश्यन्ते विवशा मांसगृद्धिनः ॥
कुम्भीपाके च पच्यन्ते तां तां योनिमुपागताः ।
आक्रम्य मार्यमाणाश्च त्रस्यन्त्यन्ये पुनः पुनः ॥

'मांस-भक्षी जीव कहीं जन्म लेनेपर भी परवश होते हैं, वे बार-बार शस्त्रोंसे काटे जाते और पकाये जाते हैं, उनकी यह दुर्गति प्रत्यक्ष देखी जाती है ।'

योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया ।
स जीवंश्च मृतश्चैव न क्वचित् सुखमेधते ॥

'जो निरपराध प्राणियोंको अपने सुखकी इच्छासे मारता है, वह जीवित अवस्थामें [illegible] मरनेके बाद भी सुख नहीं पाल[illegible] कर रहे [illegible] ।

उपर्युक्त शास्त्र-वचनोंसे यह सिद्ध होता है कि जो लोग मांस खाते हैं, उन्हें उसके पापस्वरूप अनेक प्रकारके कष्ट ही नहीं भुगतने पड़ेंगे, अपितु जिन पशु-पक्षियोंका मांस उन्होंने खाया है, वे पशु-पक्षी दूसरे जन्ममें उनका मांस खायँगे । युद्धोंके क्रम बंद नहीं होंगे । जबतक मनुष्य पशुहत्या और मांसाहारके पापको नहीं छोड़ेगा, तबतक युद्धोंका कष्ट और विनाश बंद नहीं होगा । यह संदेह कि मांसाहार या पशुहत्या बंद होनेपर देश-की खाद्य तथा सुरक्षाकी समस्यापर दुष्प्रभाव पड़ेगा, ठीक नहीं है । इंग्लैंडकी पार्लियामेंटके सदस्य स्वर्गीय श्रीपीटर फ्रीमैनने इन दोनों प्रश्नोंका उत्तर देते हुए लिखा है—

खाद्य तथा सुरक्षाकी समस्या

समय आ रहा है कि मांस खाना राक्षसपनकी तरह बुरा समझा जायगा । यह संसार केवल मनुष्यके उपभोगके लिये नहीं है । यह सारे जीव-जन्तुओंकी जागीर है और मनुष्य इसका ट्रस्टी या रक्षक है; क्योंकि वह अधिक उन्नति कर चुका है ।

श्रीफ्रीमैनने प्रश्न किया कि हर-वर्ष दो करोड़ नये पैदा होनेवाले मुखोंका क्या किया जाय ? आवश्यक तौर उन्हें मांसाहारी बनाकर उनका पालन नहीं किया जा सकता । आपने इस सारी समस्याका हल शाकाहारी भोजन बताया और निम्नलिखित आँकड़े पेश करके यह सिद्ध किया कि उतनी भूमिमें अधिक मात्रामें अच्छा शाकाहारी भोजन पैदा किया जा सकता है, जितनी भूमिमें मांसाहारी भोजन कम पैदा होता है ।

एक एकड़ भूमिमें प्रतिवर्ष निम्नलिखित चीजें पैदा हो सकती हैं—

मांसाहारी भोजन	पौंड	शाकाहारी भोजन	पौंड
गोमांस	१६८	गेहूँ-जौ आदि	२०००-२०५०
बकरेका मांस	२२८	सेम, मक्की आदि	३०००-४०००
सूअरका मांस	३००	आलू	२००००
मुर्गियाँ	३५०	गाजर	२५०००
		शलगम	३००००

इससे पता चलता है कि मांसके आँकड़ोंसे अन्नके आँकड़े दसगुना और सब्जियोंके आँकड़े १०० गुना अधिक हैं । आपने एक प्रश्नके उत्तरमें बताया कि देशकी हर एकड़ भूमिमें विटामिन [illegible] आसानीसे लगाये जा सकते हैं ।

आपने अपने तर्ककी पुष्टिके लिये इंग्लैंडके कृषि-विषयक वैज्ञानिक सलाहकार श्रीजेम्स स्काट वाटसनका वक्तव्य, जो उन्होंने दिसम्बर १९५२ में बकिंघममें दिया था, उपस्थित किया। वक्तव्यका कुछ अंश नीचे दिया जा रहा है—

'बढ़ती हुई जनसंख्याके खाद्यकी व्यवस्था करनेका तरीका यह है कि मांसके स्थानपर सब्जियों और दूध आदिका प्रयोग किया जाय और दूसरा यह है कि जो अधिक मात्रामें मांस प्रयोग करते हैं उनकी आदतोंमें तबदीली लायी जाय। इस बातका अनुमान लगाया गया है कि यदि हम शाक आदिको ही प्रयोगमें लायें तो हम करीब-करीब स्वावलम्बी बन सकते हैं।'

उन्होंने इस बातका जिकर किया कि प्रथम विश्वयुद्धके दिनोंमें डेन्मार्क पूरे तौरपर शाकाहारी देश बन गया; क्योंकि वहाँके अधिकतर पशु मर चुके थे और बाहरसे मांस आदि मँगाया नहीं जा सकता था, जिसका परिणाम यह हुआ कि युद्धके अन्तमें वहाँके स्वास्थ्यके आँकड़े योरपमें सबसे अच्छे रहे।

१९३२ में लीग आव नेशन्सने १२ राष्ट्रोंकी एक कमेटी बनायी, जिसमें इंग्लैंड, अमरीका, फ्रांस, स्वीडन आदि देश शामिल थे। इस कमेटीके जिम्मे इस बातकी जाँच करनेका काम लगाया गया कि युद्धके दिनोंमें एक सैनिकके लिये मांसका कम-से-कम कितना आवश्यक राशन चाहिये। इसका उत्तर यह दिया गया कि 'मनुष्य मांसके बिना निर्वाह कर सकता है, इसलिये मांस आवश्यक नहीं।'

श्रीफ्रीमैनने मांसाहारियोंको इस बातकी चुनौती दी कि वे पशुओंका मांस खानेका एक भी ठोस कारण पेश करें। आपने कहा 'जो भी व्यक्ति मांस खाना जारी रखेगा, वह तीसरे विश्वयुद्धको समीप लानेका कारण बनेगा; क्योंकि कुछ लोगोंको न केवल कम भोजन मिलेगा, बल्कि वे भूखसे मर जायँगे और जो शाकाहारी बन जायगा, वह संसारमें शान्ति कायम रखनेमें सहायता देगा।'

हमारे अपने देशमें अशोक, हर्ष आदिके समय, जब प्राणिवध कतई बंद था, न खाद्यकी कमी हुई और न सुरक्षाके साधन कमजोर हुए। उन दिनों किसी विदेशीने आक्रमण करनेकी हिम्मततक न की। जो लोग यह कहते हैं कि सैनिकोंके लिये मांस-भोजन आवश्यक है, ठीक नहीं कहते। उत्तर भारतके जाट, अहीर, गूजर आदि जो प्रायः मांस नहीं खाते, वे मांसभोजी सैनिक जातियोंसे किसी प्रकार भी शारीरिक शक्ति और युद्ध करनेके उत्साहमें कम नहीं। ६ नंबर जाट पलटनने प्रथम विश्वयुद्धमें फ्रांसके मोर्चेपर मांस खानेसे इनकार करके चने-गुड़-सब्जीपर गुजारा किया और दूसरे मांसभोजी सैनिकोंसे अधिक सफलता प्राप्त करके यह सिद्ध कर दिया कि निरामिषभोजी भी किसी अन्यसे कम अच्छे सैनिक नहीं। अतः मांसाहार जारी रखनेके लिये सुरक्षा और खाद्य-समस्याकी आड़ लेना ठीक नहीं।

हृदयकी शुद्धि या आध्यात्मिक उन्नति

प्राणि-विज्ञानके विशेषज्ञोंके मतानुसार मनुष्यके दाँत, जीभ एवं आहार-पाचन करनेके अङ्गोंको दृष्टिमें रखते हुए यह मानना पड़ेगा कि मनुष्य मांसाहारी नहीं, शाकभोजी जीव है। अतः मनुष्यके लिये मांस-भोजन प्राकृतिक नहीं, अप्राकृतिक खाद्य है। मनुष्यका मन एक बहुत बड़ी शक्ति है। **मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।**—मन ही मनुष्यके बन्धन और मुक्तिका मुख्य कारण है। मनुष्य जैसा भोजन करता है, वैसाही उसका मन बनता है। **आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।** आहार या भोजनके शुद्ध होनेपर मन शुद्ध होता है, मन शुद्ध होनेसे स्मृति या स्मरणशक्ति स्थायी रहती है। जिसकी स्मरण-शक्ति स्थिर है, वह प्रत्येक क्षेत्रमें उन्नति करता है। संसारमें जितने भी महापुरुष हुए हैं, वे प्रायः सभी शाकाहारी थे। दूसरेका शोषण करना, साधन और शक्ति होनेपर भी प्राणिमात्रके कष्टको दूर करनेकी कोशिश न करना, दूसरेके कष्टका अनुभव करके दयाकी भावनाका उत्पन्न न होना इत्यादि भी हिंसाके ही अङ्ग और कारण हैं। पर सबसे बड़ी हिंसा है प्राणीसे प्राणका वियोग करना-कराना इत्यादि। जो सज्जन मानव-मानवमें सद्भावना और प्रेम उत्पन्न करना चाहते हैं, जो युद्धोंको बंद करनेकी इच्छा रखते हैं, उनकी सेवामें नम्र निवेदन है कि वे अपने ही देशकी नहीं विश्वकी शान्तिके लिये भी प्राणिमात्रकी हत्या और कष्टको दूर करनेके लिये यत्नशील हों। अन्यथा, जैसा कि महर्षि स्वामी दयानन्दजी सरस्वतीने कहा है—

'गवादि पशुओंके नष्ट होनेसे राजा और प्रजा दोनोंका विनाश हो जाया करता है।' इस वाक्यको सम्मुख रखते हुए राजा और प्रजाको विनाशसे बचानेके लिये पशुओंकी हत्याको बंद करावें। विश्वशान्तिका अमोघ उपाय है अहिंसा या प्राणिमात्रको न कष्ट देना, न मारना, न मरवाना।

अहिंसा परमो धर्मः यतो धर्मस्ततो जयः।

[illegible] महा[illegible]

* *

[अ[illegible]

भक्त प्रेमनाथजी हकीम

(प्रेषक—स्व० श्रीशिवकुमारजी केडिया)

निकुञ्जोपासक श्रीप्रेमनाथजी हकीम लाहौरके सोने-चाँदीके व्यापारी लाला संतरामजी खत्रीके सुपुत्र थे। इनका जन्म संवत् १९७१ में हुआ था। ये चार भाई थे। इनकी माता प्रेमकी मूर्ति थीं। वे परम भगवद्भक्ता थीं। वे अपने जीवनमें बार-बार वृन्दावन आया करती थीं। उनके भक्तिमय सात्त्विक जीवनका बालक प्रेमनाथ-पर अद्भुत प्रभाव पड़ा।

प्रेमनाथजीकी हिंदीकी शिक्षा पर्याप्त थी। उर्दू भी वे जानते थे। अंग्रेजीमें उन्होंने मिडिलतक शिक्षा प्राप्त की थी। सोलह वर्षकी आयुमें ये लाहौरके लब्धप्रतिष्ठ हकीम काशीनाथजीके साथ काम करने लगे थे। धीरे-धीरे इन्हें रोगों और उनकी ओषधियों-का ज्ञान होने लगा। इनकी बीसवीं वर्षगाँठ पूरी होते-होते काशीनाथजी हकीमका देहावसान हो गया। तबतक प्रेमनाथजीने गवर्नमेंटसे हकीमीका प्रमाण-पत्र प्राप्त कर लिया और काशीनाथजीकी ही दूकानमें अपना औषधालय खोल दिया। धीरे-धीरे इनका अनुभव बढ़ता गया और कुछ ही दिनोंमें इनकी अच्छे हकीमों-में गणना होने लगी।

औषधालयके कार्यमें दत्त-चित्त रहनेके साथ ही ये सत्सङ्ग-पिपासु भी थे। सत्सङ्ग प्राप्त करनेके लिये ये सतत सचेष्ट रहते थे। फलतः इन्हें सत्सङ्ग मिल भी जाता था। जो महानुभाव मङ्गलमय भगवान्‌की ओर अग्रसर होना चाहते हैं, दयामय प्रभु उनका मार्गप्रदर्शन करते ही हैं। करुणामय जगदीश्वरकी कृपासे प्रेमनाथजीके हृदयपर भक्तिकी छाप पड़ गयी। ये राजा तेजसिंहके मन्दिरमें नियमितरूपसे कीर्तनके लिये जाने लगे। वहाँ कीर्तन [illegible] प्रभुप्रेमियोंकी भीड़ [illegible] कर रहे थे। दिन वहाँ दो-ढाई घंटेतक प्रेममग्न होकर भगवान्‌के नामका मधुर ध्वनिमें कीर्तन करते थे। इनका स्वर भी अत्यन्त मधुर था। लाहौरमें जहाँ-कहीं कीर्तनका आयोजन होता, हकीमजी अपना सारा कार्य छोड़कर वहाँ अवश्य उपस्थित होते।

हकीमजी गौरवर्णके अत्यन्त सुन्दर युवक थे। ये माथेपर वल्लभ-सम्प्रदायका तिलक और गलेमें तुलसीकी माला धारण करते थे। अत्यन्त सरल, स्नेही एवं शीलवान् थे। श्रीकृष्ण-लीलाके कितने पद इन्हें मुखस्थ थे। इनका मधुर पद-गायन सुनकर लोग आत्मविभोर हो जाते। अपने इन स्वाभाविक सद्गुणोंसे ये अपने समीपवर्ती लोगोंमें ही नहीं, अधिकांश लाहौरवासियोंके आदर एवं प्रेमके पात्र बन गये थे। इनकी लोकप्रियता एवं ख्याति उत्तरोत्तर बढ़ती ही गयी।

भगवान्‌की दयासे इनका औषधालय भी अच्छी प्रकार चलने लगा। अधिकांश रोगियोंने डाक्टरोंके पास जाना छोड़कर इनके यहाँ आकर चिकित्सा कराना प्रारम्भ कर दिया। श्रीप्रेमनाथजी दरिद्र एवं असहाय रोगियोंकी कभी उपेक्षा नहीं करते थे, अपितु उनके साथ अत्यन्त स्नेहका व्यवहार करते थे एवं उन्हें निःशुल्क औषध देते थे। कभी-कभी सर्वथा विवश रोगियोंको पथ्य आदि भी वे अपने ही पाससे दिया करते।

एक बार उनके पास एक अत्यन्त दीन रोगी आया। प्रेमनाथजीने उसे दूधके साथ लेनेके लिये दवा दी। रोगी दूधका नाम सुनते ही उदास हो गया, पर संकोचवश वह कुछ कह नहीं सका। घर जाकर उसने उधार दूध लिया। दवाके साथ दूध पी लेनेके [illegible] देख[illegible]छेसे हाथ पोछने लगा, तो उसने देखा,

अँगोछेके छोरमें एक रुपया बँधा था। रोगीको समझते देर नहीं लगी। वह तुरंत प्रेमनाथजीके पास आया और उनकी दयालुताके लिये उनका आभार प्रकट करने लगा। दीन रोगीके अँगोछेमें वह रुपया प्रेमनाथजीने ही चुपकेसे बाँध दिया था। इतना ही नहीं, प्रेमनाथजी अनाथ एवं लाचार रोगियोंके घर बिना बुलाये पहुँच जाते, अत्यन्त प्यारसे उन्हें देखते, सान्त्वना देते, निःशुल्क चिकित्सा करते तथा उनके खाने-पीनेकी भी कुछ-न-कुछ व्यवस्था कर देते। औषध देनेके साथ ही प्रेमनाथजी रोगियोंको भगवत्प्रेमकी बातें भी सुनाया करते। इस प्रकार इनके समीप आकर रोगी अत्यधिक लाभान्वित होते। उन्हें शारीरिक रोगसे ही नहीं, भवरोगसे भी मुक्त होनेकी औषध मिल जाती।

संवत् १९९०में, उन्नीस वर्षकी आयुमें, श्रीप्रेमनाथजी सर्वप्रथम अपने पिताके साथ वृन्दावन धाम गये। वह भूमि इन्हें अत्यन्त प्यारी लगी। फिर तो आप वर्षमें दो-दो तीन-तीन बार वहाँ जाने लगे और एक-एक बार दस-दस, पंद्रह-पंद्रह दिन ठहरने लगे। व्रजभूमि और रासमें इनकी अटूट श्रद्धा हो गयी। अतएव निधिवनमें श्रीहरिदास स्वामीके समाधि-मन्दिरमें आपने श्रीबाँकेबिहारीजीके प्रधान सेवाधिकारीसे दीक्षा ले ली और आप प्रिया-प्रियतमके अनन्य भक्त हो गये। युगल-मन्त्र-जप इनके जीवनका साधन बन गया। गुरु-चरणोंमें आपकी अद्भुत श्रद्धा थी।

व्रजवासियोंको आप अत्यन्त प्यार करते थे। कोई व्रजवासी लाहौर पहुँच जाता तो उससे अपने ही यहाँ ठहरनेका आग्रह करते और उसकी खूब सेवा करते। यदि उसकी कोई आवश्यकता होती तो अपनी शक्ति-सामर्थ्यके अनुसार उसकी पूर्ति करते। इतनेपर भी कुछ कमी रह जाती तो अपने परिचितोंसे चंदा इकट्ठा करके व्रजवासीको संतुष्ट करके ही [illegible]

वे व्रजवासियोंके भोलेपनसे अच्छी प्रकार परिचित थे। कोई व्रजवासी किसी बातपर इनसे नाराज हो जाता तो ये उसकी खुशामद करके, यहाँतक कि उसके पैर दबाकर अत्यन्त अनुनय-विनयसे उसे प्रसन्न कर लेते। व्रजमें आप जब भी जाते, व्रजवासियोंके घर जाकर उनकी सूखी रोटियाँ और छाछ माँगकर प्रसादकी भाँति अत्यन्त आदर एवं श्रद्धापूर्वक खाते और बदलेमें कुछ-न-कुछ उसे अवश्य देते। व्रजवासियोंको देखते ही आप पुलकित हो उठते थे। किसी भी व्रजवासीकी निन्दा इन्हें असह्य थी। व्रजवासियोंकी ये खूब सेवा करते, किसी भी व्रजवासीसे मिलकर इन्हें लगता जैसे ये व्रज-प्राण श्रीकृष्णको ही पा गये हों। कोई भी अपरिचित व्रजवासी इनसे मिलकर अपरिचयका अनुभव नहीं कर पाता था। उसके साथ आप सगे-सम्बन्धीसे भी अधिक गाढ़ आत्मीयताका व्यवहार करते। आप जब-जब व्रज पधारते, सभी व्रजवासी इन्हें घेर लेते। आपको श्रीगिरिराजजीकी परिक्रमामें बड़ा सुख मिलता था। शरीरान्तके दो वर्ष पूर्व तो आपने श्रीगिरिराजजीकी डंडौती परिक्रमा की थी। वह परिक्रमा ग्यारह दिनोंमें एक रास-मण्डलीके साथ पूरी हुई थी। उसमें कई भक्त, सत्सङ्गी एवं व्रजके प्रेमी महानुभाव भी थे। सब लोग दिनमें डंडौती परिक्रमाका कार्यक्रम पूरा करते और सूर्यास्त होते ही रुक जाते। रात्रिमें रासलीलाके द्वारा विश्वाधार नन्दनन्दन श्रीकृष्णकी लीलाका आनन्द प्राप्त करते। आपने व्रजकी ८४ कोसकी भी यात्रा की थी।

संवत् १९९३ से श्रीसंतरामजी (प्रेमनाथजीके पिता) वृंदावन-वास करने लगे और तब श्रीप्रेमनाथजीने श्रीतेजरामजीके मन्दिरमें जाना बंद कर दिया। अब वे अपने औषधालयमें ही नित्य कीर्तन, सत्सङ्ग एवं कथा-वार्ता करने लगे। सत्सङ्ग-प्रेमियोंका समुदाय [illegible]

श्रीप्रेमनाथजीकी धर्मपत्नी कृष्णा देवीका स्वभाव उनके सर्वथा अनुकूल था। कृष्णा देवीकी रुचि धार्मिक थी। प्रेमनाथजीकी एक कन्या थी, जिसका नाम चन्द्रावली था। उसका विवाह उन्होंने गुजरानवाला जिलेके एक सम्भ्रान्त आस्तिक परिवारमें कर दिया।

लाहौरमें आप प्रायः कोई-न-कोई रासमण्डली बुलाया ही करते। वहाँ श्रीनिहालचंदके मन्दिरमें रासलीला होती। रासमण्डलीका आप खूब सेवा-सत्कार करते। स्वयं बार-बार वृन्दावन तो आते ही, निर्धन सत्सङ्गियोंको अपने व्ययसे साथ ले जाते थे। अन्नकूट आदि महोत्सवोंमें आप अत्यन्त उत्साह एवं उल्लाससे भाग लेते और सहस्रों रुपये व्यय करते। इनकी सम्पूर्ण आय भजन-कीर्तन, व्रजवासी एवं साधु-महात्माओंकी सेवा, रासलीला तथा व्रजधामकी यात्रामें ही व्यय होती।

आप सपत्नीक प्रतिदिन सूर्योदयके पूर्व श्रीप्रिया-प्रियतमकी सेवामें बैठ जाते और पूजा-आरतीके अनन्तर घंटों युगल-मन्त्रका जप करते रहते। इनके जीवनका कण-कण और प्रत्येक क्षण श्रीराधाकृष्णके भजन, स्मरण, चिन्तन, लीला-दर्शन एवं कथा-श्रवणमें व्यतीत होता। औषधालयका कार्य तो इनका व्यय चलानेके लिये निमित्त मात्र था; किंतु भगवत्कृपासे रोगियोंको इनकी औषध अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होती थी।

इन पंक्तियोंके लेखकने स्वयं देखा है, श्रीनिहालचंदजीके मन्दिरमें रासलीलाका कार्यक्रम प्रायः चलता ही रहता था और उसका सारा व्यय हकीमजी ही वहन करते थे। एक बारकी बात है। वहाँ एक शूद्रा कुबड़ी थी। रासलीलामें हकीमजीकी आज्ञासे वह कुब्जा बनी। ठाकुर बने हुए बालकमें भगवान्‌का आवेश [illegible] र कर रहे थे। [illegible]

अब तो उसके मनपर अद्भुत भगवत्प्रभाव पड़ा। वह अपने पति श्रीठाकुरदासजीके साथ वृन्दावन-वास करने लगी। वृन्दावनमें ही उसने शरीर-त्याग किया।

श्रीप्रेमनाथजीने शरीर-त्यागके तीन दिन पूर्व ही सबसे मिलना छोड़ दिया था। विशेष सत्सङ्ग-प्रेमी एवं भजनानन्दी सज्जनोंसे मिलनेमें उन्हें कोई आपत्ति नहीं थी। सर्वसाधारणकी भीड़ न हो, इसके लिये उन्होंने पहरेकी व्यवस्था कर ली थी।

प्राण-त्यागसे कुछ समय पूर्व आपने महात्मा राधाचरणजी गोस्वामीका सत्सङ्ग-लाभ किया और अत्यन्त विनयपूर्वक उन्होंने कहा—'महाराजजी! मुझे भी वृन्दावन ले चलिये।'

गोस्वामीजीने बड़े प्रेमसे कहा—'अच्छे हो जाओ, फिर तुम्हें वृन्दावन ले चलूँगा।'

हकीमजी बोले—'महाराज! श्रीराधारानीकी कृपासे मैं आपके पहले ही श्रीधाम पहुँच जाऊँगा।'

मृत्युसे दो घंटे पूर्व उनके बहनोई मिलने आये। आपने उनके सामने धीरे-धीरे अत्यन्त शान्त मुद्रामें यह सवैया सुनाया—

सेस, महेस, गनेस, दिनेस, सुरेसहु जाहि निरंतर ध्यावैं।
जाहि अनादि, अनंत, अखंड, अभेद, अछेद सुबेद बतावैं॥
नारद से सुक ब्यास रटैं पचि हारे तऊ पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं॥

सवैया पूरा होते-होते उनके नेत्र झरने लगे। सिसकते हुए आपने एक पद्य और कहा—

ऐसे नहीं हम चाहनहारे, जो आज तुम्हें, कल और को चाहैं।
फेंक दें आँखें निकारिके दोऊ, जो दूसरि ओर मिलावैं निगाहैं॥
लाख मिलें तुम से बढ़के, तुमहीको चहैं, तुमहीको सराहैं।
प्रान रहै जब लौं, तब लौं हम नेह कौ नातौ सदाही निबाहैं॥

इसके अनन्तर आप मूर्च्छित होने लगे। 'राधे-राधे' [illegible] अपनी इह-जीवन-लीला समाप्त की।

आपके आदेशानुसार आपका अस्थि-प्रवाह श्रीगिरिराज-जीकी मानसी-गङ्गामें किया गया।

भक्त श्रीप्रेमनाथजी हकीम इस धरतीपर केवल २८ वर्षतक जीवित रहे, किंतु इसी अल्पकालमें आपने दरिद्रनारायण एवं दरिद्र रोगियोंकी अद्भुत सेवा ही नहीं की, अपना जीवन इतना प्रभु-प्रेममय बना लिया था कि उनके सम्पर्कमें आनेवाले कितने ही जन भगवद्-भजन एवं प्रभुचिन्तनमें लगकर अपने कल्याणका मार्ग प्रशस्त कर रहे हैं, फिर उन्हें निकुञ्जकी प्राप्ति हुई, इसमें तो संदेहके लिये स्थान ही नहीं। आपके जीवन-में कितने ही चमत्कार हुए, किंतु आप चमत्कारोंकी चर्चातक नहीं करते थे।

मनुष्य-जीवन और उसका उद्देश्य

(लेखक—ब्रह्मचारी श्रीअद्वयचैतन्यजी)

दुर्लभं त्रयमेवैतद् देवानुग्रहहेतुकम्।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः॥

अर्थात्, मानव-जन्म, मुक्तिकी इच्छा और महापुरुष-का सङ्ग—ये तीन दुर्लभ फल देवानुग्रहसे ही मिल सकते हैं। इनमेंसे यदि दो मिल जायँ तो तीसरा अपने-आप ही मिल जाता है। जैसे—मानव-जन्म मिला और मुक्तिकी इच्छा भी उत्पन्न हो गयी तो महापुरुष या गुरुका सङ्ग जरूर मिल जायगा। हमें मानव-जन्म तो मिल गया, परंतु ऐसा जन्म पाकर भी उसके मूल उद्देश्यको भूल जानेके कारण हमें मुमुक्षुत्व या महा-पुरुषका सङ्ग नहीं मिलता। इन दोनोंमेंसे एक भी न मिला तो हमारा यह मानव-जन्म व्यर्थ हो जायगा। कहते हैं कि चौरासी लाख जन्मोंके बाद हमें यह मनुष्य-जन्म मिला है। बड़े परितापकी बात है कि ऐसे दुर्लभ जीवनका हम सदुपयोग नहीं कर रहे हैं और इसीलिये संसारसे छुटकारा न पाकर 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम्'—इस प्रकार बार-बार जन्म-मरणरूप संसार-चक्रमें आवर्तन कर रहे हैं।

बड़े पुण्यफलसे यह मानव-शरीर हमें मिला और संसारके रोग-शोक, मृत्यु आदि दुःखोंको भी हमने जाना। थोड़ा-सा विचार करनेपर हमें यह [illegible] है कि सुख तथा शान्तिके लिये हम संसारमें जिस वस्तु-को चाहते हैं, वह वस्तु हमें सुखके बदले परिणाममें काफी दुःख पहुँचाती है। विषय-भोगोंसे इन्द्रिय-सम्बन्धी सुख मिल सकता है, किंतु परम सुख कभी नहीं मिलता। ऐन्द्रिय सुख अनित्य और दुःखदायक है तथा परम सुख नित्य और आनन्ददायक है। इस परम सुख तथा शान्तिको प्राप्त करनेके लिये ही मानवकी यह यात्रा अनादिकालसे ही चल रही है।

विचारद्वारा इस बातको समझकर भी हम अपने लक्ष्यकी ओर तत्परतासे चलनेका प्रयत्न नहीं कर रहे हैं। बल्कि जैसे ऊँट काँटा-घास चबानेसे खून निकलता देखते हुए भी काँटा-घास ही खाना चाहता है, वैसे ही हम भी संसारके भोगोंसे सुख उठाना चाहते हैं और फलतः सदा अशान्ति तथा दुःखोंके शिकार बने पछताते रहते हैं।

भागवतमें कहा गया है—

यः प्राप्य मानुषं लोकं मुक्तिद्वारमपावृतम्।
गृहेषु खगवत् सक्तस्तमारूढच्युतं विदुः॥

अर्थात् जो खुले हुए मुक्तिद्वारस्वरूप मनुष्य-जीवन-को पाकर भी चिड़ियोंके समान घरमें आसक्त रहता है, उसको पण्डित लोग आरूढच्युत अर्थात् ऊँचे चढ़कर [illegible]

* *

अबतक हमने देखा कि मनुष्य-जन्म-प्राप्तिमें एक गम्भीर लक्ष्य या उद्देश्य छिपा हुआ है। अतएव प्रश्न होता है—यह उद्देश्य क्या है ? पर इसका पहले ही उत्तर दिया जा चुका है कि परम सुख तथा पराशान्तिकी प्राप्ति ही मनुष्य-जीवनका यथार्थ उद्देश्य है और वह परमसुख या पराशान्ति भूमामें—असीम वस्तुमें है, अल्प—असीममें नहीं—'यो वै भूमा तत् सुखम्, नाल्पे सुखमस्ति ।' हमें इसी परम सुखको ढूँढ़ना है और यह निरतिशय सुख केवल आत्मज्ञानसे ही मिल सकता है। श्रीमच्छंकराचार्यने कहा है—

जीवन्मुक्तिसुखप्राप्तिहेतवे जन्म धारितम्।
आत्मना नित्यमुक्तेन न तु संसारकाम्यया॥

अर्थात् जीवन्मुक्तिरूप सुखकी प्राप्तिके लिये ही नित्य-मुक्त आत्माने यह मानव-जन्म लिया है, न कि संसार-कामनासे।

असलमें मनुष्य है तो आनन्दस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, नित्य आत्मा ही; परंतु यह ज्ञान उसे इसलिये नहीं होता कि वह अध्यास तथा अज्ञानके कारण अपने स्वरूपको भूला हुआ है। यह बात इस कहानीसे स्पष्ट हो जायगी। किसी दिन बाघका एक छोटा-सा बच्चा बकरोंके दलमें आ गया और बकरोंके साथ ही उसने अपना बचपन बिताया। बकरे-बकरियोंके सङ्गसे उसका पूरा चाल-चलन, खान-पान बकरेके समान हो गया था और उसने अपनेको एक बकरा ही समझ लिया। बकरा जैसे बोलता है, वह भी वैसे ही बोलने लगा। उसे अपने स्वरूपकी कुछ भी याद नहीं रही। किसी दिन एक दूसरे बड़े बाघने दूरसे देखा कि एक बाघ बकरोंके साथ घास चर रहा है और बकरोंके समान ही मिमिया रहा है। तब उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने धीरे-धीरे निकट पहुँचकर बकरोंमेंसे उस बाघको पकड़ लिया और कहा—'अरे तू ! बाघका बच्चा होकर बकरोंके साथ [illegible] बातु [illegible] र कर रहे थे।' देखकर पहले तो उसने बकरेकी तरह चिल्लाना शुरू किया और भागनेकी भी कोशिश की। आगन्तुक बाघ उसे जितना ही समझाता 'तू बकरा नहीं है, बाघ है' वह उतना ही जोरसे में-में चिल्लाता। वह बाघ बड़ी विपत्तिमें पड़ गया; क्योंकि वह 'मैं बकरा हूँ' इस मिथ्या ज्ञानसे उसको मुक्त नहीं कर पाता था। अब अचानक उसके विचारमें एक नया उपाय सूझा। वह उस बकरे-बाघको पासके एक तालाबके किनारे ले गया और डाँटता हुआ बोला—'देख, इस जलमें तेरा और मेरा मुख—क्या दोनोंमें कुछ अन्तर मालूम होता है ?' ऐसे दिखलाने और समझानेसे उस बकरे-बाघका भ्रम तुरंत मिट गया और उसे ज्ञान हो गया कि वह वस्तुतः बाघ ही है, बकरा नहीं। इस ज्ञानके होने ही उसने इतने जोरसे गर्जन किया कि पासका सारा पहाड़-जंगल काँप उठा। इस प्रकार उसको स्वरूपका ज्ञान हो गया।

इसी तरह सच्चिदानन्द, नित्य आत्मस्वरूप होते हुए भी मनुष्यने देह, मन, बुद्धि आदिमें आत्मभावका आरोप करके सदा अपनेको ऐसा सम्मोहित कर रखा है कि 'मैं देहविशिष्ट जीव हूँ'—यह उसकी मिथ्या प्रतीति टूट नहीं रही है।

श्रीशंकराचार्यने कहा है—

ब्रह्मैवाहं समः शान्तः सच्चिदानन्दलक्षणः।
नाहं देहो ह्यसद्रूपो ज्ञानमित्युच्यते बुधैः॥

अर्थात्, मैं सम, शान्त, सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म ही हूँ, असत्-रूप देह नहीं हूँ—विज्ञजन इसीको ज्ञान कहते हैं। ऐसा ज्ञान हमें इसीसे नहीं मिल रहा है कि मिथ्या अध्यासके कारण हमारा यथार्थ स्वरूप ढँक गया है और 'मैं कौन हूँ ? इस प्रकारके विचारका भी उदय नहीं होता। यदि उपर्युक्त कहानीके आगन्तुक बाघकी तरह कोई सद्गुरु मिल जायँ तो हमारा यह वि[illegible] देखए अज्ञान तुरंत टूट सकता है और

'निर्गच्छति जगज्जालात् पिञ्जरादिव केसरी'—सिंह जैसे पिंजरेसे मुक्त होता है, वैसे ही हम भी संसार-जालसे मुक्त हो सकते हैं।

पहले यह कहा जा चुका है कि मुमुक्षुत्व तीव्र होनेसे गुरु अवश्य मिल जाते हैं। अब देखना पड़ेगा कि केवल विचार और पुरुषकारकी सहायतासे इस मुमुक्षुत्व तथा मुक्तिके लिये कैसी साधना होनी चाहिये, जिससे मनुष्य तुरंत लक्ष्यपर पहुँच जाय।

सभी साधनाओंका एक ही उद्देश्य है—चित्तशुद्धि। शास्त्रोंमें भी चित्तका मल दूर करनेके लिये विभिन्न साधनोंका उपदेश दिया गया है। उनमेंसे साधन-चतुष्टय—(१) नित्यानित्य वस्तुओंका विवेक, (२) इहलोक और परलोकके फल-भोगसे विराग, (३) शम-दमादि छः सम्पदाएँ और (४) मुमुक्षुत्व—ये चार साधन प्रधान माने गये हैं। यज्ञ, जप, पूजा, नित्यकर्म इत्यादि सभी निष्काम भाव-तथा ईश्वरार्पण बुद्धिसे किये जायँ तो उनसे भी चित्तकी शुद्धि अवश्य होती है। परंतु मनुष्य जब शास्त्रानुसार विचार और बुद्धिसे यह निश्चय कर लेता है कि 'मैं स्वरूपतः ब्रह्म ही हूँ, मिथ्या देहाभिमानके कारण ही यह बन्धन है,' तब वह क्यों श्रवण, मनन, निदिध्यासन (ध्यान), विचार इत्यादि अन्तरङ्ग यानी साक्षात् साधनोंको छोड़कर यज्ञ—पूजादिमें निरत रहेगा ? जिनको 'तत्त्वमसि' सुनते ही पक्का निश्चय हो जाता है कि 'अहं ब्रह्मास्मि'—मैं ब्रह्म हूँ, उन उत्तम अधिकारियोंके लिये तो किसी साधनकी आवश्यकता ही नहीं है; क्योंकि उनके चित्तमें तनिक भी मल न रह जानेके कारण श्रवणके साथ ही उन्हें ब्रह्मज्ञान हो जाता है। किंतु दूसरे, जिन साधकोंके चित्तमें कुछ मल शेष रहनेके कारण केवल बुद्धि और विचारसे ही अद्वैतका निश्चय होता है, उनको भी इस निश्चयको पक्का और दृढ़ करने[illegible] 'मैं नित्यस्वरूप, आनन्दस्वरूप ब्रह्म [illegible] मनन तथा निदिध्यासन करना पड़ेगा। इसीसे उनका चित्त पूर्णरूपसे शान्त तथा निर्मल हो जायगा। ऐसा साधन बताते हुए मुनि अष्टावक्रने विचारवान् साधकके लिये कहा है—

मुक्तिमिच्छसि चेत्तात विषयान् विषवत् त्यज।
क्षमार्जवदयातोषं सत्यं पीयूषवद् भज॥

अर्थात् हे वत्स! यदि मुक्तिकी इच्छा करते हो तो विषयोंको विष समझकर छोड़ दो और क्षमा, सरलता, दया, संतोष तथा सत्यका अमृत समझकर सेवन करो।

तदनन्तर मुनि फिर अज्ञाननाशका यह उपाय बतलाते हैं—

एको विशुद्धबोधोऽहमिति निश्चयवह्निना।
प्रज्वाल्याज्ञानगहनं वीतशोकः सुखी भव॥

अर्थात् 'मैं एक और विशुद्ध बोधस्वरूप आत्मा हूँ' ऐसे निश्चयरूप वह्निसे अज्ञानरूप जंगलको जलाकर शोकहीन और सुखी हो जाओ।

अतः हमें अपनेको विश्वास और दृढ़ताके साथ समझाना पड़ेगा कि 'मैं ज्ञानस्वरूप ब्रह्म ही हूँ' और इसके साथ-साथ विषयोंका त्याग तथा क्षमा, दया, सत्यादिका अभ्यास करना पड़ेगा। तभी हमारा चित्त पूरा शुद्ध होगा और तब 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा दृढ़ बोध अपने-आप अवश्य उत्पन्न हो जायगा। फिर अज्ञानरूप कुछ भी बाधक नहीं रहेगा। विचारवान् साधकके लिये यही मार्ग उत्तम कहा जाता है। दूसरे मार्गोंपर चलनेसे वृथा समय नष्ट होता है, जो बहुत ही हानिकारक है; क्योंकि जीवन क्षणस्थायी है—पता नहीं, कब समाप्त हो जाय। और मानव-जन्म ही मुक्तिका क्षेत्र है। इसलिये हमें इसी जन्ममें मुक्ति प्राप्त कर लेना है। अबतक हमने देखा कि अद्वैतका दृढ़ निश्चय यानी यथार्थ स्वरूपमें अवस्थान ऊपर कहे गये अन्तरङ्ग साधनोंसे ही शीघ्र हो सकता है।

दूसरी ओर[illegible] विचार कीजिये। यज्ञ, [illegible] भावसे

* *

ही किये जा सकते हैं। और विचारसे तो यह सिद्ध होता है कि द्वैतबोध मिथ्या है। अब मिथ्याके द्वारा सत्यकी उपासना कैसे हो सकती है। दो मिथ्याओंको जोड़नेसे एक सत्य नहीं होता, और अज्ञानसे भी अज्ञानका नाश सम्भव नहीं है। अज्ञानका विनाश तद्विपरीत ज्ञानसे ही होता है, जैसे अँधेरा तद्विपरीत उजियालेसे मिट जाता है। किंतु ज्ञानके नित्य होनेके कारण किसीको उसे प्राप्त नहीं करना पड़ता। तब क्या साधन करना पड़ेगा ? जन्म-जन्मान्तरकी विपरीत भावनाके तथा देह-मनके प्रति मिथ्या आत्माभिमान-रूप अज्ञानके कारण यह नित्य ज्ञान ढक गया है, जैसे कभी सूरज बादलसे ढक जाता है। साधनका केवल यही उद्देश्य है कि इस अज्ञानरूप मलको हटा दिया जाय। यथार्थ सत्यस्वरूप आत्माके विचार, मनन और निदिध्यासनसे यह मल तुरंत ही हट जा सकता है। जैसे इस समय 'मैं देहविशिष्ट एक जीव हूँ' ऐसा बोध हो रहा है, वैसे ही उक्त साधनसे 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा अडिग, दृढ़ प्रत्यय हो जायगा और फलतः रोग-शोक-पूर्ण संसारचक्रसे निकलकर हम इसी जन्ममें जीवन्मुक्तिरूप शाश्वत सुख पा लेंगे और तब हम भी कह सकेंगे—

धन्योऽहं कृतकृत्योऽहं विमुक्तोऽहं भवग्रहात्।
नित्यानन्दस्वरूपोऽहं पूर्णोऽहं त्वदनुग्रहात्॥

हे गुरो ! आपकी कृपासे मैं धन्य हूँ, कृतकृत्य हूँ, संसारबन्धनसे मुक्त हूँ; मैं नित्यानन्द-स्वरूप हूँ और पूर्ण हूँ।' यही आत्मसाक्षात्कार मानव-जीवनका लक्ष्य या उद्देश्य है।

ॐ तत् सत्।

कामना-पूर्तिसे सुखकी इच्छा ही दुःख है

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

'संसारमें सबसे अधिक दुखी पोप है !' श्रोता काँप उठते थे, लूथरकी वाणी वज्रके समान सीधी और भयंकर चोट करती थी। उसके प्रत्येक शब्द पोपद्वारा प्रचारित पाखण्डको छिन्न-भिन्न करनेवाले हथौड़े बन-कर गिरते थे—'वह पैसेके लिये सारे समाजको धोखा दे रहा है; किंतु स्वयं वह समझता है कि परमात्माको कोई धोखा नहीं दे सकता।'

'आपकी बात सच भी हो तो····।' एक श्रोता सभामें उठ खड़ा हुआ था।

'सच भी हो तो—क्या मतलब ? सच ही है !' लूथरका घनघोष सुनायी पड़ा। 'पैसा देकर पापियोंके पापका क्षमापन-पत्र वह दिलाता है ! पोपको पैसा देनेसे परमात्मा तुम्हारे पाप क्षमा कर देगा—तुम क्या इतने मूर्ख हो कि परमात्माको घूसखोर मानो !'

'पै[illegible]र कर रहे थे। [illegible] ही था। 'पोप महान् दुखी कैसे हैं। उनके पास क्या अभाव है ? उन्हें कोई शारीरिक क्लेश भी तो नहीं।'

'अच्छा !' लूथर खुलकर हँस पड़े—'तुमने सुना नहीं, तुम्हारे पोप रात्रिमें एक क्षण सो नहीं पाते। उन्होंने सैनिकोंकी संख्या दुगुनी कर दी है।'

'डाकुओंपर परमात्माका क्रोध उतरे !' महिलाओंमेंसे अनेकोंने एक साथ शाप दिया। 'वे पूज्यपादरियोंको भी लूट लेते हैं और पोपको भी लूटनेपर तुले हैं।'

'उनके पास भी पोपका पाप-क्षमापनपत्र है। उन्होंने जन-साधारणसे कई गुने अधिक पैसे देकर उन्हें खरीदा है।' लूथरकी चोट बड़ी भयङ्कर थी। 'स्वयं पोपने उस पत्रको मुद्राङ्कित किया है। उसमें लिखा है—'प्रभुने तुम्हारे सब पिछले पाप और वे [illegible] आगे करोगे, क्षमा कर दिये !'

'क्षमापन-पत्रमें अवश्य यह लिखा होगा।' महिलाओं-के ही नहीं, दूसरे भावुक श्रोताओंके मुख भी लटक गये। 'उसमें लिखा तो यही होता है। पोप महान् उसे मुद्राङ्कित करते हैं।'

'अब वे डाकू कुछ भी करनेके लिये स्वतन्त्र हैं! वे पोपको लूट सकते हैं, उसकी हत्या कर सकते हैं।' लूथर अग्नि-वर्षा करते जा रहे थे। 'वे मुझे और आप सबको मार सकते हैं। उन्हें कोई पाप नहीं होगा। उन्हें परमात्मा क्षमा कर देगा; क्योंकि पोपने उन्हें क्षमापन-पत्र दे दिया है। पोप तो परमात्माको भी आज्ञा दे सकते हैं।'

'झूठी बात! बंद करो बकवास! ऐसा कभी नहीं हो सकता!' श्रोता उत्तेजित हो उठे थे। 'सर्व-शक्तिमान् परमात्माको कोई आज्ञा नहीं दे सकता।'

'सज्जनो! मैं आपके मतसे सर्वथा सहमत हूँ।' लूथर—शब्दोंके जादूगर लूथर मुस्कराते हुए कह रहे थे। 'सर्वशक्तिमान् परमात्माको कोई आज्ञा नहीं दे सकता। न पोप और न उनके अनुचर। इसीलिये क्षमापन-पत्र पाखण्ड है। उसे लेकर डाकू लूटने और हत्या करनेके अपराधसे छूट नहीं सकते और हमारे-आपके पाप क्षमा नहीं हो जाते।'

शान्ति—निस्तब्ध शान्ति व्याप्त हो गयी सभामें। सूई गिरे तो उसका शब्द सुन लिया जाय। संत लूथरके शब्दोंके सत्य सीधे श्रोताओंके हृदयमें उतर गये थे।

'पाखण्ड स्वयं पाप है।' लूथर आगे बोल रहे थे। 'मुझे पता नहीं कि निर्णयके दिन इस घोर पापका प्रवर्तक कहाँ भेजा जायगा, उसे क्या दण्ड मिलेगा; किंतु दण्ड तो वह अभी भोग रहा है। रुपया कैसे आये, कहाँसे आये रुपया—इस चिन्तासे वह अशान्त है। चिन्ताने उसे इतना दुखी कर दिया है कि उसको निद्रा लानेके लिये अपने चिकित्सकोंकी [illegible] पड़ती है। स्वयं उसपर परमात्माका अभिशाप उतर पड़ा है।'

× × ×

'मार्टिन लूथर मार डालने योग्य है!' पादरियोंका पूरा समुदाय विरोधी हो उठा था। 'वह पोपका विरोध करता है। उसे चौराहेपर खड़ा करके पत्थरोंसे मारते हुए टुकड़े-टुकड़े कर देना चाहिये।'

पूरे देशके पादरी शत्रु हो गये थे। पादरियोंके संकेतपर चलनेवाली श्रद्धालु जनता भड़क उठी थी। समाजका उग्र एवं आवारा समुदाय सदासे धर्म-पुरोहितों-के हाथमें रहा है। पादरी प्रोत्साहित कर रहे थे इस वर्गको कि वे लूथरको पीड़ित करें। शासकोंमें भी समाजके धर्म-गुरुओंका आदेश अस्वीकार करनेका साहस नहीं था। लूथर आज या कल बंदी बना लिये जायँगे—निश्चित जान पड़ने लगा।

'लूथर! तुम इतने प्रसन्न क्यों हो?' एक मित्रने ऐसे कठिन समयमें नित्य प्रफुल्ल लूथरसे पूछा। 'तुम कैसे इतने सुखी रह पाते हो?'

'मुझे चाहिये क्या कि मैं चिन्ता करूँ?' खुलकर हँसना लूथरका अपना स्वभाव है। अपने उसी निर्मल स्वभाव-से हँसते हुए वे कह रहे थे—'चिन्ता ही दुःखकी जननी है। जो कुछ चाहेगा, वह दुखी होगा। जितना चाहेगा पदार्थोंको, उतना दुःख पायेगा। मेरा पालक तो परमपिता परमात्मा है। वह दयामय है। मुझे जैसे चाहेगा, रखेगा। मुझे कुछ पाना है नहीं तो दुःख कहाँसे साहस पायेगा मेरा स्पर्श करनेका।'

'तुम कहते हो कि बाइबलका सर्वसाधारणकी भाषाओंमें अनुवाद होना चाहिये?' मित्रने एक दूसरा ही प्रश्न किया।

'यदि हमारा [illegible] हो कि बाइबल परमात्माका [illegible] से समझना

* *

चाहिये। वह हमारी भाषामें न होगा तो हम उसे समझेंगे कैसे। लोग बाइबलके संदेशके अनुसार आचरण करें अथवा लोग बाइबलके वाक्योंको पढ़ें, भले आचरण उसके विरुद्ध करें—इन दोनोंमें कौन-सी बात श्रेष्ठ है, यह भी क्या तुम्हें समझाना होगा ?'

'तुम्हें शैतानने अपने सब तर्क सौंप दिये हैं।' मित्र हँस पड़ा। वह आक्षेप नहीं कर रहा था। पादरी-समुदाय जो बात लूथरके सम्बन्धमें लोगोंको सुनाता था, उसीको उसने हँसीमें कह दिया था।

'मनुष्यको बहका देना शैतानका स्वभाव है !' लूथर भी हँस पड़े। 'किंतु शैतानके तर्कोंसे देवदूतके तर्क दुर्बल नहीं हुआ करते। जब दोनोंके सम्मुख तर्क करनेका सुअवसर हो, विजयी तर्क देवदूतका होता है। एक बात और—शैतान अपनेको परमात्माका प्रतिनिधि बताकर लोगोंको बहकाता है, उन्हें अपना अनुगामी बननेको कहता है और देवदूत किसीको अपना अनुगामी नहीं बनाते। वे सबको सदा सीधे परमात्माके शरणापन्न होनेकी प्रेरणा देते हैं।'

'अच्छा, अब इन बातोंको छोड़ो ! मैं विशेष प्रयोजनसे तुम्हारे पास आया हूँ।' मित्रने गम्भीरतापूर्वक कहना प्रारम्भ किया। 'हमारे देवदूतको शैतान नष्ट करनेपर तुला है। तुम शीघ्र बंदी बनाये जानेवाले हो। देश छोड़कर आज ही तुम्हें प्रस्थान कर देना है। यात्राकी व्यवस्था हमलोगोंपर छोड़ दो।'

'परमात्मा जिसकी रक्षा करना चाहेगा, शैतान उसकी हानि करनेमें समर्थ नहीं हो सकेगा।' लूथर फिर हँस रहे थे। 'मेरे प्रति तुमलोगोंका प्रेम ही तुम्हें भयभीत कर रहा है; किंतु मैं अपनी कर्म-भूमि छोड़कर अभी कहीं नहीं जाना चाहता।'

'तुम बंदी कर लिये जाओगे और वे तुम्हें मार डालेंगे! 'मि[illegible]र कर रहे थे। के लिये यहाँसे कुछ समयके लिये बाहर चले जाओ ! हठ मत करो।'

'मृत्यु इतनी भयानक नहीं है कि उसके भयसे कर्तव्यका त्याग किया जा सके।' लूथर अपने निश्चयपर स्थिर बने रहे। 'परमात्माकी इच्छा पूर्ण हो ! क्या प्रभु ईसाने हमें यह समझाया और स्वयं अपने आदर्शसे सिखलाया नहीं है ?'

× × ×

'यह पोपके पाप-क्षमापन पत्रको पाखण्ड कहता है।'

'यह पवित्र बाइबलका सभी भाषाओंमें अनुवाद करा देना चाहता है।'

'यह शैतानका समर्थक है !' पादरियोंका रोष पराकाष्ठापर पहुँच चुका था। मार्टिन लूथर बंदी बना लिये गये थे। पादरी माँग कर रहे थे—'इसे प्राणदण्ड दिया जाय !'

लूथरके शिष्य और समर्थक भी यह आशा नहीं कर सकते थे कि उनको मुक्त कर दिया जायगा। उनकी बड़ी-से-बड़ी माँग इतनी थी—'लूथर मारा न जाय। उसे आजन्म कारावास दिया जाय।'

'तुम अपना अपराध स्वीकार करते हो ?' पूछा गया लूथरसे।

'मैंने कोई अपराध नहीं किया।' लूथर निर्भय स्थिर खड़े थे। 'सत्यको स्पष्ट करना कोई अपराध नहीं है।'

'तुम्हारे ये अपराध !' न्यायाधीश स्वयं नहीं समझ पा रहे थे कि सचमुच लूथरने कोई अपराध किया भी है।

'पाप-क्षमापन-पत्र पाखण्ड है !' लूथरकी गम्भीर वाणी गूँजी। 'यदि ऐसा नहीं है तो क्या न्यायालय यह घोषणा करनेको उद्यत है कि जिनके पास पाप-क्षमापन-पत्र है या जो उसे प्राप्त कर लेंगे, उन्हें कुछ भी करनेकी स्वतन्त्रता होगी, उन्हें उनके किसी कार्यका दण्ड वि[illegible] देखयगा ?'

'ऐसा कैसे सम्भव है !' न्यायाधीशने निकलनेका मार्ग निकाला । 'परमात्मासे पाप क्षमा करा देनेके लिये वे पत्र दिये जाते हैं ।'

'परमपिता परमात्मा पहलेसे जिनके पाप क्षमा कर चुका' लूथरने व्यंग किया—'वे निष्पाप नहीं हुए, यह आप कहना चाहते हैं । आप उन्हें दण्ड देंगे, जिन्हें प्रभु दण्डनीय नहीं मानता ।'

'न्यायालय तुम्हारे तर्क सुननेको प्रस्तुत नहीं है ।' सत्ताका सहारा लेनेके अतिरिक्त अत्याचार-दुर्बल शासनके पास ऐसी अवस्थामें और क्या आश्रय हो सकता था ।

'जानता हूँ !' लूथरने एक तीक्ष्ण व्यंग और किया । 'न्यायालय तो परमपिताके संदेश समझा देनेपर भी प्रतिबन्ध रखना चाहता है । वह नहीं चाहता कि लोग अपनी भाषामें उसे पाकर समझ लें और उसका आचरण करें; वह केवल इतनी अनुमति दे सकता है कि लोग उसके अक्षरोंको रट लिया करें ।'

'तुमने अपने अपराध स्वीकार कर लिये हैं !' न्यायाधीश विवश थे—कितनी विडम्बना थी, वे न्याय करनेके लिये स्वतन्त्र नहीं थे । उनकी नियुक्ति एक निश्चित निर्धारित तन्त्रके अनुसार निर्णय करनेके लिये थी । उन्होंने अपनी पूरी क्षमता घोषित की—'यदि तुम क्षमा माँग लो तो छोड़ दिये जा सकते हो ।'

'क्षमा ! किसलिये ?' लूथर हँस पड़े । 'एक निरपराध पाखण्डका प्रसार करनेवाले वर्गसे क्षमा माँग ले !'

'तब तुम्हें प्राणदण्ड दिया जाता है !' न्यायाधीश उठ गये निर्णय सुनाकर । वे निर्णय ही सुना सकते थे, किसीको प्राणदण्ड देना उनकी शक्तिमें नहीं था । कम-से-कम लूथरको प्राणदण्ड तो वे और उनका शासन-तन्त्र नहीं दे सकता था—दे नहीं सका । कारागारसे लूथर निकल गये—कैसे निकल गये, एक रहस्य ही है ।

× × ×

'पोप आपके शत्रु हो गये हैं !' अनेकों शुभचिन्तकोंने समय-समयपर लूथरको सूचना दी—'आपको अधिक सावधान रहना चाहिये ।'

'अत्यन्त रोगाक्रान्त प्राणी चिड़चिड़ा हो जाता है । वह अपने चिकित्सकको ही मारना चाहता है ।' लूथर सच्चे दयार्द्र हृदयसे कहते थे । 'दुखी प्राणी दयाका पात्र है । उससे कैसा द्वेष और भय तो उससे क्या ।'

'संत मार्टिन लूथर !' जनताने सत्यके सम्मुख सिर झुका दिया था । श्रद्धावनत समाजने लूथरके उपदेशोंका आदर करना प्रारम्भ कर दिया था । उन समदर्शीके आदर्श व्यापक बनने लगे थे ।

'परमात्माकी कृपा-प्राप्तिकी कामना करो !' लूथरका प्रधान उपदेश था । 'यह प्रभुत्व और सम्पत्ति वहींतक आदरणीय हैं, जहाँतक चित्त उन्हें प्रभुका प्रसाद समझे और प्रभुकी एवं दीनोंकी सेवामें उनका सद्व्यय होता रहे । अन्यथा वे शैतानके सहायक बन जाते हैं । वे 'अधिक पाओ' इस कामनाको बढ़ा देती हैं । कामनाओंसे सुख-प्राप्तिकी अपेक्षा—यही तो दुःख है । इससे दयनीय कोई स्थिति नहीं कि मनुष्य स्वयं अपना दुःख बढ़ाता जाय ।'

'क्रन्दनका अविरल संसार !'

यही सोचकर वे मनमोहन लेंगे मेरा सुमधुर प्यार !
छेद करा डाले निज तनुमें सहकर भी भीषण दुख-भार !
तब उस बेचारी मुरलीको मिला हाय ! प्रियतमका प्यार !
पिया-मिलन परिहास नहीं है, क्रन्दनका अविरल संसार !!

—[illegible]जी मह[illegible]

* *

नारी और नौकरी

(लेखक—प्रो० श्रीरामनारायणजी सोनी, एम्० कॉम्०, एल्-एल्० बी०)

आजकल सर्वत्र ही नारी-जागरणकी बात सुनी जाती है। 'उनपर सदासे अत्याचार होता आया है, अब वे शिक्षिता होकर अपना न्याय्य अधिकार चाहती हैं। पुरुषोंकी भाँति सभी काम करनेका, विशेषकर अर्थोपार्जनके लिये कार्य करनेका उन्हें अधिकार होना चाहिये। वे धनोपार्जनका कार्य न कर सकनेके कारण ही पुरुषोंकी गुलाम बननेको मजबूर हो रही थीं। पुरुष मनमाने ढंगसे इन्द्रियोंको चरितार्थ करता है; स्त्री वैसा करती है तो पूरा दोष समझा जाता है—वैसा करनेपर स्त्रियोंको इस लोकमें कितने ही कष्ट सहने पड़ते हैं और उन्हें परलोकका भय दिखलाया जाता है।' इस प्रकार विभिन्न प्रकारके यथेच्छाचाररूप अधिकारोंके लिये दावा सुननेमें आता है। बहुत-से युवक और युवतियाँ इन सब बातोंको प्रमाणित सत्य मान बैठे हैं और पाश्चात्त्य देशोंकी स्त्रियोंके ऐसे अधिकारोंका प्रसार दिखलाकर वे मानो हमलोगोंके लिये गन्तव्यपथ निर्देश कर रहे हैं।

यह अवश्य ही ध्यानमें रखनेकी बात है कि हिंदुओंके सिवा अन्य किसी भी जातिने आजतक भगवान्‌को स्त्रीरूपमें नहीं देखा, नहीं पूजा। किसीने कल्पना भी नहीं की। यदि सचमुच हम स्त्रीको हेय समझते, तिरस्कारकी दृष्टिसे देखते, तो सर्वशक्तिमान् भगवान्‌को स्त्रीके आकारमें कभी नहीं देखते, दुर्गाके रूपमें उनकी अर्चना न करते। देवासुर-संग्राममें देवताओंकी बार-बार नारी-देवता (दुर्गा) की शरण लेनेपर असुरोंके हाथसे रक्षा होनेकी कथाएँ हमारे धर्मग्रन्थोंमें नहीं लिखी जातीं, विपत्ति पड़ते ही घर-घर चण्डीपाठ न होता। 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' हमारी एक प्रचलित लोकोक्ति है।

भारतकी स्त्रियोंमें नौकरीका शौक बढ़नेसे विकट समस्याएँ उपस्थित होने लगी हैं। बहुत-सी स्त्रियाँ जब अर्थोपार्जनके कर्मक्षेत्रमें उतर आती हैं, तब स्वाभाविक ही 'आवश्यकता और पूर्ति' के नियम (Law of demand and supply) के अनुसार वेतनकी दर घट जाती है। जितने स्थान स्त्रियोंको मिल जाते हैं, उतने स्थानोंपर पुरुषोंको कार्य नहीं मिलता—वे कामपर जाते तो उनमेंसे बहुत-से लोग विवाह करके कुछ दूसरी [illegible] मचा सकते; परंतु काम [illegible] र कर रहे हैं। बेकारीके साथ ही उनसे प्रतिपालित होनेकी सम्भावनावाली स्त्रियोंको भी धनोपार्जनके लिये नौकरी करनी पड़ती है। अतएव जितनी ही अधिक स्त्रियाँ नौकरीके क्षेत्रमें बढ़ती हैं, उतने ही विवाहोंकी संख्या घटती है। जब बेकार आदमी अपना ही पेट नहीं पाल सकता, तब वह विवाह कहाँसे करे। पाश्चात्त्य देशोंमें यह समस्या बहुत ही विकट हो गयी है और दुर्भाग्यकी बात यह है कि भारत भी इसी पथपर अग्रसर हो रहा है। इस प्रकार बहुत-सी स्त्रियोंके बहुत कालतक अविवाहिता रहनेसे और अर्थोपार्जनके क्षेत्रमें पुरुषोंके साथ प्रतियोगिता करनेसे स्वाभाविक ही पुरुष और स्त्रियोंमें एक द्वन्द्व—एक विद्वेषभाव उत्पन्न होता है। इस प्रकार प्रतियोगिताके क्षेत्रमें दीर्घकालतक पुरुषोंके साथ कार्य करनेसे उनमें स्त्रीस्वभाव-सुलभ कोमलताके बदले पुरुष-सुलभ कठोरता आ जाती है। सहानुभूतिकी प्रेरणा कम हो जाती है, जो दीर्घकालके अभ्यासके अभावसे उनको मातृत्वके तथा गृहिणीत्व—विवाहित जीवनके और गृहस्थीके कामके लिये अनुपयुक्त बना देती है। मातृत्वके और गृहिणीत्वके काममें फिर उन्हें वैसा सुख नहीं मिलता, वरं कष्ट होता है। दूसरेकी सुख-सुविधाके लिये अपनी सुख-सुविधाका त्याग करनेकी प्रवृत्ति और शक्ति, जिसपर विवाहित जीवनकी सुख-शान्ति प्रधानतया निर्भर करती है, उनमें बहुत कम हो जाती है। अतएव वे अपने विवाहित जीवनको सुख-शान्तिमय बनानेमें अयोग्य हो जाती हैं। इसीसे फिर तलाककी प्रवृत्ति बढ़ती है। जब स्त्री-पुरुष दोनों ही दिनभर काम करके थके हुए, नाना प्रकारके झंझटोंसे हैरान हुए और विविध तापोंसे तपे हुए घर लौटते हैं, तब उनमेंसे कौन और कब किसको सेवा और सहानुभूतिकी शान्ति-धारा सींचकर सुखी, शीतल कर सकेगा? और यदि परस्पर आवश्यकतानुसार यत्न-सेवा-सहानुभूति ही नहीं मिलेगी, तब विवाहकी सफलता कहाँ है। तब तो वह घर घर नहीं है—बासामात्र है।

कहा जाता है कि 'जब गरीब घरोंकी या नीची कही जानेवाली जातियोंकी स्त्रियाँ घरके बाहर मेहनत-मजदूरी कर सकती हैं, तब फिर अमीर या बड़े घरोंकी स्त्रियोंके मार्गमें ही [illegible] डाली जायँ। किसानोंके घरोंकी स्त्रियाँ खेती-[illegible] पुरुषोंके साथ पूरी मेहनत करती हैं।

व्यावसायिकोंके सम्बन्धमें भी यही बात है। बढ़ई, दरजी, लुहार आदिकी स्त्रियाँ अपने पतियोंके काममें इतनी दक्ष हो जाती हैं कि आवश्यकता पड़नेपर बिना पुरुषोंकी सहायताके भी वे अपना काम चला सकती हैं।'

यह निश्चित ही अच्छी चीज है। यदि बड़े घरानोंकी स्त्रियाँ भी ऐसा कोई काम सीखें, जिसमें घरमें रहकर ही वे अपने पतिका बोझ हल्का कर सकें तो अच्छा ही है। अन्यथा दफ्तरके अफ़सरोंकी घुड़की-धमकी सहनेकी अपेक्षा अपने पतिकी सेवा कहीं अच्छी है। दूसरोंके बच्चोंको शिक्षा देनेके लिये स्कूलोंमें नौकरी करनेके पहले अपने बच्चोंकी शिक्षाकी चिन्ता करनी चाहिये। यह समझना भूल है कि घरका काम राष्ट्रका काम नहीं है। गत महायुद्धके समय ब्रिटेनके युद्ध-मन्त्रीने स्त्रियोंसे अपील करते हुए कहा था—'स्त्रियाँ समझती हैं कि साधारण काम करनेमें उनका समय नष्ट होता है; पर यह बात नहीं। किसी-न-किसीको तो राष्ट्रके लिये आलू बनाना और थालियाँ साफ करनी ही पड़ेंगी। बिना छोटे-छोटे काम सीखे बड़े कामोंकी योग्यता नहीं आती।'

आज पाश्चात्त्य समाजमें सत् उपायसे भी जीविकोपार्जन करना युवती शिक्षिता स्त्रियोंके लिये विशेष अपमानजनक है—शायद बहुत लोग इस बातको नहीं जानते। जगत्प्रसिद्ध लेखक Hall Caine के 'The woman thou gavest me' तथा H. G. Wells के 'Ann Veronica और Victor Hugo के 'Les Miserables' में कैंटाइनका उपाख्यान पढ़नेसे इसका पता लग सकता है। बहुत बार चरित्रहीनता आर्थिक उन्नतिमें सहायक होती है, इसीलिये बहुत-सी स्त्रियोंका पतन होता है। इसीसे देखा जाता है कि बहुत-सी पाश्चात्त्य स्त्रियोंको धनोपार्जनके कार्य करने जाकर ही वेश्यावृत्ति स्वीकार करनी पड़ी है। 'The Great Social Evil' नामक पुस्तकमें Logan साहबने लिखा है कि 'वेश्याओंमें एक चतुर्थांश पहले होटलोंमें काम करती, एक चतुर्थांश कल-कारखानोंमें काम करती, एक चतुर्थांश कुटनियोंके फेरमें पड़कर और एक चतुर्थांश बेकारीसे और विवाहकी प्रतिज्ञा भङ्ग होनेसे वेश्यावृत्ति करती हैं।' बर्लिन और वायना नगरोंमें ५१ और ५८ प्रतिशत वेश्याएँ नौकरी-पेशा स्त्रियोंमेंसे आयी हैं।

'Our Freedom and Its Results' 'हमारी स्वतन्त्रता और उसके परिणाम' नामक पुस्तकमें ब्रिटेनके नारी-आन्दोलनकी एक प्रधाननेत्री रे इस्ट्रैची लिखती हैं कि 'स्त्रियोंके आर्थिक स्वतन्त्रताके मार्गमें कितनी रुकावटें हैं। इनमें कुछ तो प्राकृतिक हैं, जिनमें परिवर्तनकी सम्भावना नहीं है और कुछ परम्परागत सामाजिक वहमोंके कारण हैं, जिनके दूर होनेमें बहुत समय लगेगा। गर्भ धारण करके बच्चा पैदा करना स्त्रियोंका प्रकृतिसिद्ध कार्य है, जो कभी पुरुषोंके मत्थे नहीं पड़ता। यद्यपि इसमें अधिक समय नहीं लगता, तथापि इसकी सम्भावनाके कारण स्त्रियोंको काम मिलनेमें बाधा अवश्य पड़ती है। लड़कोंको सीना-पिरोना, खाना पकाना भले ही सिखाये जायँ, पर इन कामोंके लिये वे घर नहीं बैठ सकते। स्त्रियोंकी शारीरिक शक्ति पुरुषोंसे कम होती है, यह मानना ही पड़ेगा। एक बात यह भी है कि चालीस वर्षकी आयु हो जानेपर स्त्रियोंमें शक्तिका ह्रास हो जाता है।' लेनिनकी राय थी कि 'स्त्रियोंको गृहस्थीके कार्य तथा बच्चोंकी परवरिशसे मुक्त कर देना चाहिये, जिससे वे देशकी सेवा कर सकें।' इसीलिये बच्चोंके पालन-पोषण और शिक्षाका भार राष्ट्रने ले लिया। सूतिकागृह और शिशु-शालाओंकी व्यवस्था की गयी; किंतु बादमें यह अनुभव हुआ कि इनमें पले हुए बच्चोंमें वह बात नहीं आती, जो घरके पले बच्चोंमें होती है। मातृत्वके अभावमें बालकका व्यक्तित्व पूर्णरूपसे विकसित ही नहीं हो पाता, यह ध्रुव-सत्य है।

अन्तमें स्व० प्रेमचन्दजीके शब्दोंमें—

'मेरे विचारसे नारी सेवा और त्यागकी मूर्ति है, जो कुर्बानीसे अपनेको बिल्कुल मिटाकर पतिकी आत्माका अंश बन जाती है। आप कहेंगे 'मर्द अपनेको क्यों नहीं मिटाता? औरतसे ही क्यों इसकी आशा करता है?' मर्दमें वह सामर्थ्य नहीं है। वह तेजःप्रधान जीव है .... स्त्री पृथ्वीकी भाँति धैर्यवान् है, शान्तिसम्पन्न है, सहिष्णु है। पुरुषमें नारीके गुण आ जाते हैं तो वह महात्मा बन जाता है। नारीमें पुरुषके गुण आ जाते हैं तो वह कुलटा हो जाती है।

'नारीके पास देनेके लिये दया है, श्रद्धा है, त्याग है, सेवा है। पुरुषके पास देनेके लिये क्या है? वह देवता नहीं, लेवता है। वह अधिकारके लिये हिंसा करता है, संग्राम करता है, कलह करता है ....।

'मुझे खेद है कि हमारी बहनें पश्चिमका आदर्श ले रही हैं, जहाँ नारीने अपना पद खो दिया है और स्वामिनीसे गिरकर विलासकी वस्तु बन गयी है।'

* *

भगवान् श्रीकृष्ण षोडश-कलापूर्ण

(लेखक—श्रीसुतीक्ष्णमुनिजी)

भगवान्का परिपूर्णतमरूप अवतार श्रीकृष्ण थे। तभी श्रीमद्भागवत (१ । ३ । २८) में कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् कहा गया है। श्रीकृष्णमें भगवान्के सभी गुण प्रकट थे, जो उनके चरित्रोंसे स्पष्ट हैं—इसमें लेशमात्र भी संशय करनेकी गुंजाइश नहीं है। संशय करनेवाले विनाशको प्राप्त होते हैं। वे सुखी नहीं हो सकते।

'संशयात्मा विनश्यति।' 'न सुखं संशयात्मनः।' (गीता)

'कृष्ण' शब्दका अर्थ—

कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः।
तयोरैक्यं परब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते॥

'कृष्ण' शब्द 'विष्ण' शब्दके अनुसार ही प्रागैतिहासिक है। भगवान् श्रीकृष्ण सर्वकलापूर्ण थे, यह उनकी समय-समयकी लीलाओंसे स्पष्ट हो जाता है; किंतु चन्द्रवंशमें अवतरित होनेसे वे षोडश-कलापूर्ण कहे जाते हैं। उन विशिष्ट सोलह कलाओंके नाम इस प्रकार हैं—

(१) प्रथमकला 'अन्न' है, जिससे जीवमात्रकी उत्पत्ति होती है—अन्नाद्भवन्ति भूतानि (गीता ३ । १४)। अन्नसे ही तृप्ति होती है, तभी छान्दोग्योपनिषद्में अन्नको ब्रह्म कहा गया है। अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्—अन्नको ब्रह्म जानकर अन्नकी कमी निन्दा न करें। अन्नकी निन्दा करनेवाला ब्रह्मकी निन्दा करनेवालेके तुल्य पातकी—नरकगामी है। उद्भिज्जयोनि केवल अन्नके विकाससे उत्पन्न हुई, यह एक कलाका विकास है। इनमें प्राणमय कोष न होनेसे ये चल नहीं सकते, इसलिये इनकी 'जड' संज्ञा हुई।

(२) द्वितीय कलासे स्वेदजोंकी सृष्टि हुई। यह दूसरी कला अन्न और प्राणोंके मिलनेसे हुई, इसीसे स्वेदजोंमें चलने-फिरनेकी शक्ति आयी।

(३) तृतीय कला अन्नमय, प्राणमय और मनोमयकी है; इससे अण्डजोंका जन्म हुआ और इनमें प्रेम आया।

(४) चतुर्थ कला अन्न, प्राण, मन और विज्ञानकी है; इससे जरायुजोंकी सृष्टि हुई।

(५) पञ्चम कला अन्न, प्राण, मन, विज्ञान और आनन्दकी है। पञ्चकोष मनुष्यमात्रमें साधारणतया होते हैं। इन सबका विस्तृत वर्णन अनेकों ग्रन्थोंमें आता है।

(६) षष्ठ कला विभूति (ऐश्वर्य) की है, जो मनुष्योंके कर्मानुसार [illegible] रहती है। [illegible] भगव[illegible] कर रहे थे। विज्ञ[illegible] अर्जुनके प्रति गीता अ० १० में अपनी विभूतियाँ गिनाते हुए अन्ततः श्लोक ४१ में कहते हैं कि 'सम्पूर्ण विभूतियाँ मेरे ही तेजके अंशसे उत्पन्न हुई हैं, इस प्रकार तू जान।'

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥

(७) सप्तम कला धर्मकी है, जिसके रक्षार्थ सदैव भगवान् सन्नद्ध रहते हैं। भगवान्की रची सृष्टि भी धर्मके आधारपर स्थित है। जहाँ धर्ममें कुछ भी विषमता (असमानता) आयी अथवा धर्मनाशक मण्डल उदय हुआ, वहीं भगवान् किसी-न-किसी रूपसे या स्वयं प्रकट हो धर्मकी रक्षा करते हैं। भगवान्ने अपना यही विरद गीता अध्याय ४, श्लोक ८ में सुनाया है—

धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।

(८) अष्टम कला अर्थ है। सर्वप्रकारके अर्थ भगवान्की कृपासे सुलभ होते हैं। भगवान् ही परम अर्थ हैं।

(९) नवम कला 'ज्ञान' है—सब प्रकारका परिपूर्ण ज्ञान भगवान्में है। वे ज्ञानस्वरूप हैं। उनके कृपा-कटाक्षके बिना ज्ञानका प्रकाश होना असम्भव है।

(१०) दशम कला तेज (प्रकाश) है। संसारमें जितना प्रकाश (ज्योति) है, वह सब भगवान्की सत्तासे है, सारा विश्व प्रकाश्य है, भगवान् प्रकाशक हैं।

(११) एकादश कला 'यश' है। भगवान् यशके अथाह सागर हैं। संसारका कोई भी व्यक्ति उनके यशकी थाह नहीं पा सका, वेद भी 'नेति-नेति' कहकर चुप हो गये। शेषजी सहस्र मुख, दो सहस्र जिह्वाओंसे भगवान्के नित्य नवीन सुयशोंका गान करते रहनेपर भी उनकी थाह नहीं पाते।

(१२) द्वादश कला 'योग'की है, भगवान् श्रीकृष्ण समस्त योगियोंके ईश्वर—योगेश्वर थे।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो……….।

(१३) त्रयोदश कला 'सर्वज्ञता' है। भगवान् ही पूर्ण सर्वज्ञ हैं। शेष सबमें थोड़ी बहुत अल्पज्ञताका भास अवश्य झलकता है, ब्रह्माका बछड़े तथा ग्वालोंका छिपाना, शंकरका मोहिनीरूप देखकर मोहित होना, नारदका विश्वमोहिनीके सङ्ग विवाह करनेके लिये भगवान्का रूप माँगना, इन्द्रका व्रजपर कोप करना आदि-आदि सर्वज्ञताके अभावका ही आभास नहीं तो और क्या है। इसलिये भगवान् ही [illegible] हैं।

[illegible] चतुर्दश कला 'इच्छा' है। भगवान्की इच्छा-

शक्तिको सृष्टिका कारण माना गया है। इस इच्छाशक्तिके चार रूप (भेद) हैं—इच्छाशक्ति, योगमाया, महामाया और माया। भगवान् श्रीकृष्णने इन चारोंसे काम लिया है। श्रीकृष्णकी कोई भी इच्छा व्यर्थ नहीं गयी।

(१५) पञ्चदश कला 'सर्वतन्त्रस्वतन्त्रता' है।

परम स्वतंत्र न सिर पर कोई। भावइ मनहि करहु तुम्ह सोई॥

(१६) षोडश कला 'सर्वसिद्धि' है। संसारके सभी कार्य भगवान्‌की कृपासे ही सिद्ध होते हैं।

उपर्युक्त षोडश कलाएँ पूर्णरूपसे श्रीकृष्णमें विद्यमान हैं,—जो श्रीमद्भागवत, गीता, महाभारत, हरिवंश आदिके पढ़नेसे स्पष्ट है। लेखवृद्धिके भयसे कलाओंका विस्तृत वर्णन यहाँ नहीं किया गया। बहुत सम्भव है विद्वत्-मण्डल कलाओंके सम्बन्धमें और भी प्रकाश डालनेकी कृपा करेंगे। भगवान्‌के नाम, गुण, लीलाएँ अनन्त हैं। जहाँ बड़े-बड़े लोग थाह नहीं पा सके, वहाँ मुझ अल्पबुद्धिकी क्या गिनती है।

जेहिं मारुत गिरि मेरु उड़ाहीं। कहहु तूल केहि लेखे माहीं॥

सुख-शान्तिमय जीवन कैसे हो ?

(लेखक—एक यात्री)

यह देव-दुर्लभ मानव-शरीर अनेक पर्याप्त पुण्योंकी कमाईसे प्राप्त होता है; इसपर भी प्राणी काम, क्रोध, मोह, लोभ, मद, मत्सर षट् विकारोंमें फँसा रहता है और पाप-कर्म करके इस मानव-शरीरको व्यर्थ खोकर फिर चौरासी लाख योनियोंमें जा गिरता है तथा दुःखमय जीवन व्यतीत करता हुआ रोता-कलपता रहता है; परंतु अब उसकी कोई नहीं सुनता, सुने भी कौन। उसने कर्म ही ऐसे किये हैं, जिनका परिणाम अपार दुःख है—

'कर्म प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फलु चाखा॥

(मानस)

तो फिर यही प्रश्न होता है कि ये षट् विकार कैसे छूटें और स्थायी सुख-शान्ति कैसे मिले। इसका उत्तर निम्नलिखित विचारोंसे स्पष्ट है। इन विचारोंको अभ्यास-द्वारा दृढ़ कर लेना चाहिये।

विचार १—मुझे एक दिन इस असार संसारको छोड़कर जाना होगा। हमारे पूर्वज, सम्बन्धी, इष्टमित्र हमारी आँखोंके सामने देखते-देखते चले गये और चले जा रहे हैं। जरा दिलकी गति रुकी और खेल खतम। महामारी, हैजा, इन्फ्लुयंजा आदि नगरमें आये कि हजारों चल बसे। फिर भी क्या हमारे जानेमें कुछ संदेह है? एक-दो दिनकी कोई क्या कहे, एक घड़ीभर भी जीवनका कोई निश्चय नहीं। रे मन! ऐसा निश्चय करके इस असार संसारसे धीरे-धीरे आसक्ति छोड़।

अंतहुँ तोहि तजैंगे पामर, तू न तजै अबही ते।

(विनय०)

यह फानी-तूफानी दुनिया अन्तमें तेरा साथ नहीं देगी—

आयु गँवाई दुनियाँमें, दुनियाँ चले न साथ।
पैर कुल्हाड़ी मारिया मूरखने अपने हाथ॥

सहस्रबाहु और रावण-ऐसे महाबली योद्धा इस असार संसारसे खाली हाथ चले गये—

सहसबाहु दसबदन आदि नृप बचे न काल बली ते।
हम हम करि धन धाम सँवारे, अंत चले उठि रीते॥
सुत बनितादि जानि स्वारथ रत, न करु नेह सबही ते।
अंतहुँ तोहि तजैंगे पामर, तू न तजै अबही ते॥

(विनय०)

मदिरा पीकर जैसे मनुष्य उन्मत्त हो जाता है, उसको अपना और पराया भान नहीं रहता, उसी तरह, रे मन! तूने अपने देवदुर्लभ मानव-जीवनके वास्तविक कर्तव्यको भुला दिया है। अनेक पर्याप्त पुण्योंके बिना मानव-शरीर नहीं मिलता। जलचर, थलचर, नभचर आदि असंख्य प्राणियोंमें मनुष्यजाति ही श्रेष्ठ मानी गयी है। अनेक प्राणियोंमें कोई एक बिरला ही मनुष्य-शरीर प्राप्त करता है। इसको पाकर जो अपना लोक-परलोक नहीं बना लेते, वे अपार दुःखमय जीवन व्यतीत करते हैं—

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताय।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोष लगाय॥

(मानस)

जगद्गुरु स्वामी श्रीशंकराचार्यजी अपनी चर्पटपञ्जरिकामें लिखते हैं—

दिनमपि रजनी सायं प्रातः शिशिरवसन्तौ पुनरायातः।
कालः क्रीडति गच्छत्यायुस्तदपि न मुञ्चत्याशावायुः॥
भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते॥

बार-बार दिन, सायंकाल, रात्रि आती है और देखते ही चली जाती है, एवं शिशिर-वसन्त आदि ऋतुएँ भी आकर चली जाती हैं। इस प्रकार कालकी क्रीडा निरन्तर होती रहती है, प्राणियोंकी आयु इस तरह क्षीण होती जा रही [illegible] संसारकी

आशारूपी वायु तुझे छोड़ना नहीं चाहती। अब जो आयु बची है, उसीको सार्थक बना और अन्तर्यामी गोविन्द-भगवान्‌का निरन्तर प्रेमसे भजन कर।

निम्न कविताओंको विचारपूर्वक गुनगुनाते रहना चाहिये—

(क) है बहारे बाग दुनियाँ चंद रोज।
देख ले इसका तमाशा चंद रोज॥
ऐ मुसाफिर कूँचका सामान कर।
है बसेरा इस सरामें चंद रोज॥

(ख) जाना है, रहना नहीं, जाना बिस्वा बीस।
थोड़े दिनकी जिंदगी, भज ले श्रीजगदीस॥

(ग) मुट्ठी बाँधे आया जगमें,
हाथ पसारे जायेगा।

(घ) सिकंदर जब चला बसा दुनियाँसे, दोनों हाथ खाली थे॥

इन विचारोंका सोते-जागते समय अथवा निरन्तर ध्यान रखनेसे षट्विकार एवं पापकर्म घटते-घटते क्षय हो जायँगे और प्राणी स्थायी सुख-शान्ति प्राप्तकर मुक्त पुरुषकी भाँति जीवन व्यतीत करता हुआ अन्तमें, हाथीके गलेसे फूलकी माला गिरनेके समान, प्रसन्नतापूर्वक शरीर छोड़कर परमधाम प्राप्त करेगा—

राम चरन दृढ़ प्रीति कर, बालि कीन्ह तनु त्याग।
सुमन माल जिमि कंठ ते गिरत न जानइ नाग॥
(मानस)

उपर्युक्त विचारोंकी प्रतिदिन एक आवृत्ति अवश्य होनी चाहिये, ताकि थोड़े समयमें विचार दृढ़ हो सके और यह भी विचार रहे कि हमको ही अपने कर्मोंका हिसाब देना होगा, उसमें कोई साथी या मददगार नहीं होगा। यह ध्रुव सत्य है कि इस प्रकारके विचारोंको भलीभाँति सुदृढ़ कर लेनेपर छः मासके अंदर ही कार्य करनेका दृष्टिकोण बदल जायगा, पापकर्म करनेमें ग्लानि होने लगेगी और जीवन सुख-शान्तिमय होगा।

विचार २—प्रारब्ध और पुरुषार्थका विवेचन करके धन आदि भोगोंके लिये प्रारब्धपर ही विश्वास करना और योगके लिये पुरुषार्थपर भरोसा रखना। संसारके सब दुःख-सुख, लाभ-हानि प्रारब्धके अधीन हैं। चालाकी-बेईमानीसे जीवन-का सुख-दुःख, हानि-लाभ हम तिलभर भी नहीं बदल सकते, वरं आगामी जन्मके लिये काँटे बो लेते हैं—यह हमें निम्न-लिखित विचारोंद्वारा दृढ़ कर लेना चाहिये—

(१) प्रारब्ध पहिले रची, पाछे रच्यो सरीर।
तुलसी चिंता त्याग दे, भज ले श्रीरघुबीर॥

(२) आयुः कर्म च वित्तं च विद्या निधनमेव च।
पञ्चैतान्यपि सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः॥

'आयु, भोग, धन, विद्या और मृत्यु मनुष्यके गर्भकालमें ही विधाता रच देते हैं।'

(३) कह मुनीस हिमवंत सुनु जो बिधि लिखा लिलार।
देव दनुज नर नाग मुनि कोउ न मेटनिहार॥
(मानस)

(४) सुनहु भरत भावी प्रबल बिलखि कहेउ मुनि नाथ।
हानि लाभ जीवन मरन जस अपजस बिधि हाथ॥

(५) हँसि बोले रघुबंस कुमारा।
बिधि कर लिखा को मेटनिहारा॥

मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् राम प्रारब्ध एवं कालकी विचित्र गतिका वर्णन इस प्रकार करते हैं—

(६) यच्चिन्तितं तदिह दूरतरं प्रयाति
यच्चेतसा न कलितं तदिहाभ्युपैति।
प्रातर्भवामि वसुधाधिप चक्रवर्ती
सोऽहं व्रजामि विपिने जटिलस्तपस्वी॥

'हे लक्ष्मण! जिस इष्ट पदार्थके लिये हम चिन्ता करते हैं, कब मिले! कब मिले—ऐसी प्रतीक्षा करते हुए अनेकविध प्रयत्न करते हैं, वह प्रारब्धाधीन कालकी विचित्र गतिसे हमको नहीं मिलता, हमसे हजारों कोस दूर हो जाता है। इसी प्रकार जिसका हमें स्वप्नमें भी ध्यान नहीं होता, जिसे हम कभी भी देखना नहीं चाहते, वह अनिष्ट दृश्य सहसा हमारे सामने आ-कर खड़ा हो जाता है। इस विषयमें लक्ष्मण! तू मुझको ही देख! प्रातःकाल मैं चक्रवर्ती सम्राट् होने जा रहा था, वही आज मैं जटाधारी तपस्वीका-सा वेष बनाकर वनमें जा रहा हूँ।'

अतः दृढ़ विश्वास रखें कि एक दिन इस अपार संसारको छोड़कर अकेले ही जाना होगा और भले-बुरे कर्मोंका भोग भोगना होगा। दूसरा यह विचार दृढ़ रखें कि धनादि भोग प्रारब्धके ही अधीन हैं, अतः उनके लिये पापकर्म करना अपनेको अपार दुःखमें डालना है। इन दो ही विचारोंको सुदृढ़ करनेसे जीवनमें स्थायी सुख-शान्ति प्राप्त होगी और अन्त समयमें शरीर छोड़कर प्राणी परम गतिको प्राप्त होगा—

आया है सो जायगा, राजा रंक फकीर।
कोई रथ चढ़ि चल रहा, कोई बँधा जँजीर॥

श्रीहरिः

कल्याण

[भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचार-सम्बन्धी सचित्र मासिक पत्र]

वर्ष ३१

संवत् २०१३—२०१४ वि०

सन् १९५७ ई०

की

निबन्ध, कविता

तथा

चित्र-सूची

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार] * [प्रकाशक—घनश्यामदास जालान

कल्याण-कार्यालय, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

वार्षिक मूल्य ७॥)
विदेशोंके लिये १०) [१५ शिलिंग]

प्रतिसंख्या ।≡)

|| श्रीहरिः ||

'कल्याण'के इकतीसवें वर्षकी विषय-सूची

क्रम-संख्या विषय पृष्ठ-संख्या

निबन्ध

* *

* *

कहानी

संकलित गद्य

पद्य

संकलित पद्य

चित्र-सूची

रंगीन चित्र

दुरंगा चित्र

रेखा-चित्र

मानचित्र

सादे चित्र

१-५३२। सूची तीर्थाङ्कमें देखनी चाहिये। बहुत लंबी तथा केवल तीर्थाङ्कसे सम्बन्धित होनेके कारण उसे यहाँ नहीं दिया गया है।

श्रीगीता-जयन्ती

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

'सम्पूर्ण धर्मोंको मुझमें त्यागकर तुम केवल एक मेरी शरणमें आ जाओ। मैं तुम्हें सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा। तुम शोक मत करो।' (गीता १८। ६६)

इस वर्ष मार्गशीर्ष शुक्ल ११, मङ्गलवार, दिनाङ्क ३ दिसंबर १९५७ ई० को श्रीगीता-जयन्तीका महापर्व-दिवस है। इस पर्वपर जनतामें गीताप्रचारके साथ ही श्रीगीताजीके क्रियात्मक अध्ययनकी स्थायी योजना बनाना चाहिये। पर्वके उपलक्ष्यमें श्रीगीतामाताका आशीर्वाद प्राप्त करनेके लिये नीचे लिखे कार्य यथासाध्य देशभरमें सभी छोटे-बड़े स्थानोंमें अवश्य करने चाहिये—

(१) गीता-ग्रन्थका पूजन।
(२) गीताके वक्ता भगवान् श्रीकृष्ण तथा गीताको महाभारतमें ग्रथित करनेवाले भगवान् व्यासदेवका पूजन।
(३) गीताका यथासाध्य पारायण।
(४) गीतातत्त्वको समझने-समझानेके लिये तथा गीताप्रचारके लिये सभाएँ, गीता-तत्त्व और गीता-महत्त्व-पर प्रवचन और व्याख्यान तथा भगवन्नामकीर्तन आदि।
(५) पाठशालाओं और विद्यालयोंमें गीतापाठ, गीतापर व्याख्यान, गीता-परीक्षामें उत्तीर्ण छात्र-छात्राओंको पुरस्कार-वितरण।
(६) प्रत्येक मन्दिरमें गीताकी कथा और भगवान्‌की विशेष पूजा।
(७) जहाँ कोई अड़चन न हो, वहाँ श्रीगीताजीकी शोभा-यात्रा।
(८) लेखक तथा कवि महोदय गीतासम्बन्धी लेखों और कविताओंद्वारा गीताप्रचारमें सहायता करें।

श्रीभगवन्नाम-प्रेमियोंसे प्रार्थना

विश्वके वर्तमान विषाक्त वातावरणमें भगवन्नाम ही हमें सुख-शान्तिका सुधा-बिन्दु प्रदान करनेमें समर्थ है। इसी कारण 'कल्याण'के इस वर्षके दसवें अङ्कमें प्रेमी पाठक-पाठिकाओंसे कार्तिक-पूर्णिमासे सोलह नामोंके मन्त्रका अधिक-से-अधिक जप करनेकी प्रार्थना की गयी थी। निश्चय ही नाम-प्रेमी भाई-बहिनोंने नियमितरूपसे जप करना आरम्भ कर दिया होगा। जिन महानुभावोंने अबतक जप प्रारम्भ न किया हो, उनसे सविनय निवेदन है कि वे इस प्रार्थनाको पढ़ लेनेके अनन्तर नामजप अवश्य प्रारम्भ कर दें और कार्तिक-पूर्णिमाके जितने दिन पश्चात् जप आरम्भ किया जाय, उतने दिनोंकी कमी अपने नियमित जपसे कुछ अधिक करके पूरा कर लें।

प्रार्थी—चिम्मनलाल गोस्वामी

विक्रम-संवत् २०१५ का गीता-पञ्चाङ्ग

(सम्पादक—ज्यौतिषाचार्य, ज्यौतिषतीर्थ पं० श्रीसीतारामजी झा, काशी)

आकार २४×३०=आठपेजी, सफेद ग्लेज २८ पौंडका कागज, पृष्ठ-संख्या ६४, रंगीन आर्टपेपरपर छपा हुआ सुन्दर टाइटल, मूल्य ।≤), डाकखर्च अलग।

इसके पचास हजार प्रतियोंके दो संस्करण प्रायः समाप्त हो चुके हैं। अब पंद्रह हजार प्रतियोंका तीसरा संस्करण छापा गया है। जिन्हें लेना हो, वे शीघ्र ले लेनेकी कृपा करेंगे, जिससे गतवर्षकी तरह निराश न होना पड़े।

यहाँ आर्डर देनेसे पहले स्थानीय पुस्तक-विक्रेताओंसे माँगना चाहिये। थोक-विक्रेताओंको १००० प्रतियाँ एक साथ लेनेपर ४०) सैकड़ेके हिसाबसे मिलेगा।

गीता-दैनन्दिनी सन् १९५८ ई०

आकार २२×२९ बत्तीसपेजी, पृष्ठ ४१६, मूल्य साधारण जिल्द ॥=), बढ़िया जिल्द ॥।)

७०,००० प्रतियोंका प्रथम संस्करण हाथोंहाथ बिक गया, इसलिये १५,००० प्रतियोंका दूसरा संस्करण छापा गया है। विशेषाङ्क आदिके कामके कारण तीसरा संस्करण छापनेका विचार नहीं है; अतः जिन्हें लेना हो, वे शीघ्र ले लेनेकी कृपा करें।

गीता-दैनन्दिनीके विक्रेताओंको विशेष रियायत मिलती है। सभी पुस्तकें अपने शहरके विक्रेताओंसे लेनेपर समय और पैसेकी बचत हो सकती है।

...प्रेस, ...

रजि० सं० ए० १७५

श्रीहरिः

'कल्याण'के प्रेमी ग्राहकों और पाठकोंको सूचना तथा प्रार्थना

१—इस अङ्कके साथ 'कल्याण'का इकतीसवाँ वर्ष पूरा हो रहा है। यह बारहवाँ अङ्क इस वर्षकी अन्तिम संख्या है। इस संख्याके साथ इस वर्षका मूल्य समाप्त हो जाता है। इसके बाद बत्तीसवें वर्षका प्रथम अङ्क भक्ति-अङ्क (विशेषाङ्क) के रूपमें निकलेगा। इसकी सूचना पिछले अङ्कोंमें दी जा चुकी है। सभी दृष्टियोंसे यह अङ्क अतिशय रोचक, आकर्षक, ज्ञानप्रद एवं स्फूर्तिदायक होगा। और यह सभी श्रेणीके नर-नारियोंके लिये अतिशय उपयोगी एवं स्थायीरूपसे संग्रहणीय सिद्ध होगा।

२—इस अङ्कमें लगभग ७०० सौ पृष्ठ होंगे। और बहुरंगे तथा एकरंगे आर्टपेपरपर छपे हुए अनेक सुन्दर चित्र रहेंगे।

३—इस अङ्कका प्रचार-प्रसार बहुत अधिक तथा इसके द्वारा निश्चितरूपसे लाभ होना सम्भव है; अतएव जो तुरंत ७॥) (साढ़े सात) रुपये मनीआर्डरसे भेजकर ग्राहक नहीं बन जायँगे, उनको सम्भवतः यह अङ्क मिलना कठिन हो जायगा। इसलिये जिन्होंने अबतक चंदा नहीं भेजा है, वे ७॥) तुरंत भेजकर ग्राहक बन जानेकी कृपा करें।

रुपये भेजते समय कूपनमें 'ग्राहक-संख्या' लिखना न भूलें। नाम, पता, ग्राम या मुहल्लेका नाम, डाकघर, जिला, प्रान्त आदि बड़े-बड़े साफ अक्षरोंमें अवश्य लिखें। नये ग्राहक हों तो कूपनमें 'नया ग्राहक' लिख दें और, जहाँतक हो सके, प्रत्येक पुराने ग्राहक प्रयत्न करके दो-दो नये ग्राहक बनाकर उनके रुपये भिजवानेका प्रयत्न करें। यह विशेषाङ्क बहुत ही उपयोगी होगा। रुपये मनीआर्डरद्वारा भेजने-भिजवानेमें जल्दी करनी चाहिये।

४—ग्राहक-संख्या न लिखनेसे आपका नाम नये ग्राहकोंमें लिखा जायगा। इससे विशेषाङ्क नये नंबरोंसे चला जायगा और पुराने नंबरसे वी० पी० द्वारा अङ्क दुबारा जायगा। ऐसा भी सम्भव है कि उधरसे आपने रुपये भेजे हों और उनके यहाँ पहुँचनेसे पहले ही आपके नाम वी० पी० चली जाय। दोनों ही स्थितियोंमें आप कृपापूर्वक वी० पी० वापस न करके नये ग्राहक बना दें और उनका नाम-पता साफ-साफ लिखनेकी कृपा करें।

५—जिन पुराने ग्राहकोंको किसी कारणवश ग्राहक न रहना हो, वे कृपापूर्वक एक कार्ड लिखकर सूचना दे दें ताकि व्यर्थ ही कल्याण-कार्यालयको डाकखर्चकी हानि न सहनी पड़े।

६—गीताप्रेसका 'पुस्तक-विभाग' तथा 'महाभारत-विभाग' 'कल्याण'से सर्वथा अलग हैं। अतः 'कल्याण'के चंदेके साथ पुस्तकोंके तथा महाभारतके लिये रुपये न भेजें और पुस्तकोंके तथा महाभारतके आर्डर भी 'मैनेजर, गीताप्रेस' तथा 'मैनेजर, महाभारत-विभाग, गीताप्रेस'के नामसे अलग भेजें।

७—जिन सज्जनोंको सजिल्द अङ्क लेना हो वे सवा रुपया १।) अधिक यानी ८॥।) भेजें। परंतु यह ध्यान रहे कि सजिल्द अङ्क अजिल्द अङ्क भेजे जानेके बाद ही जा सकेंगे। इसलिये चार-छः सप्ताहकी देर होना सम्भव है।

८—किसी अनिवार्य कारणवश 'कल्याण' बंद हो जाय तो विशेषाङ्कमें ही वर्षका चंदा समाप्त हुआ समझना चाहिये; क्योंकि अकेले विशेषाङ्कका ही मूल्य ७॥) है।

९—भक्ति-अङ्कको समयपर निकालनेकी चेष्टा अपनी ओरसे पूरी हो रही है। फिर भी श्रीहनुमानप्रसादजीके अस्वस्थ एवं बाहर होनेके कारण अनिवार्यरूपसे कुछ विलम्ब होनेकी सम्भावना है। ऐसी स्थितिमें अङ्क कदाचित जनवरीके मध्य [illegible]।

[illegible] 'कल्याण' पो० गीताप्रेस, (गोरखपुर)